(देश देशान्तरों में प्रचारित, उच्च कोटि का आध्यात्मिक मासिक-पत्र)

वार्षिक मू० २॥)

सन्देश नहीं मैं स्वर्ग लोक का लाई ।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आई ॥

एक अङ्क का

सम्पादक—पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, सहा० सम्पादक—प्रो० रामचरण महेन्द्र एम०

वर्ष ६] मथुरा, १ अक्टूबर सन् १९४८ ई० [अं

अपने ऊपर विश्वास कीजिए ।

विश्वास कीजिये कि वर्तमान निम्न स्थिति को बदल देने की सामर्थ्य प्रत्येक मनुष्य में पर्याप्त मात्रामें विद्यमान है । आप जो सोचते हैं, विचारते हैं, जिन बातों को प्राप्त करने की योजनायें बनाते हैं, वे आन्तरिक शक्तियों के विकास से अवश्य प्राप्त कर सकते हैं ।

विश्वास कीजिये कि जो कुछ महत्ता, सफलता, उत्तमता, प्रसिद्धि, समृद्धि अन्य व्यक्तियों प्राप्त की है, वह आप भी अपनी आन्तरिक शक्तियों द्वारा प्राप्त कर सकते हैं । आपमें वे सब उत्तमोत्तम तत्त्व वर्तमान हैं, जिनसे उन्नति होती है । न जाने कब, किस समय, किस अवसर किस परिस्थिति में आपके जीवन का आन्तरिक द्वार खुल जाय और आप सफलता के उच्चतम शिखर पर पहुंच जांय ।

विश्वास कीजिये कि आप में अद्भुत आन्तरिक शक्तियां निवास करती हैं । अज्ञान वश आप म की अज्ञात, विचित्र, और रहस्यमय शक्तियों के भंडार को नहीं खोलते । आप जिस मनोबल आत्मब या निश्चयबल का करिश्मा देखते हैं, वह कोई जादू नहीं, वरन् आपके द्वारा संपन्न होने वाल एक दैवी नियम है । सब में ये असाधारण एवं चमत्कारिक शक्तियां समान रूप से व्याप्त हैं । संसा के अगणित व्यक्तियों ने जो महान् कार्य किये हैं, वे आप भी कर सकते हैं ।

वेद भगवान का संदेश।

भद्र नो अपि वातय मनो दक्षमुतक्रतुम्।
ऋक् १०-२५-१

प्रभु, हम लोगों में उत्साह, बल और कर्म को भरिए।

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्राः वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥
ऋक् १०-१०३-१३

उठो, बढ़ो और विजय प्राप्त करो, तुम्हारी भुजाएं उग्र हों जिससे तुम कभी हार न सको।

उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः—
समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीडाः।
दधिक्रामग्निं मुषसं च देवी—
मिन्द्रावतोऽवसे निह्वयेवः॥
ऋक् १०-१०१-१

मित्रो, जागो और अपने मन को बल से भर लो। अपने अन्दर उत्साह की अग्नि जला लो। तुम्हारी रक्षा के लिए वह अग्नि जलाई जाती है कि जिससे क्रिया शील बना जाता है। उषा को बुलाया जारहा है जो तुम्हारे जीवन को ज्योतिर्मय कर देगी।

जीवन को अग्नि मय ज्योतिर्मय बनाने के लिए यह मंत्र आदेश देता है।

अश्मन्वती रीयते संरभध्व—
मुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा—
अनमीवानुत्तरे माभि वाजान्।
अथर्व १२-२-२६

सामने विघ्न बाधारूपी पत्थरों से भरी हुई वेगवान नदी जारही है एक दूसरे का हाथ पकड़ कर श्रम करते उसे तैर कर पार करने के लिए तैयार हो जाओ। इसके पार करने पर ही ऐश्वर्य सुख उपभोग करने के लिए मिलेगा।

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं,
न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमाद मतन्द्राः।
ऋक् ८-२-१८

जो जाग कर शुभ कर्म करता है देवता उसी को चाहते हैं अर्थात् उसी के भीतर की देव शक्तियां जागृत होती हैं, जो सोये पड़े रहते हैं। देवशक्तियां उनमें नहीं जगती या उनसे प्रेम नहीं करतीं। समझ जाओ जो प्रमादी हैं, उन्हें कोई सहायता नहीं देता।

यो जागार तमृचः कामयन्ते
यो जागार तमु सामानियन्ति,
यो जागार तमयं सोम आह
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः।
ऋक् ५—४४—१४

ऋचायें जागे हुए की ही इच्छा करती हैं, साम का वही लाभ ले सकता है। सोम उसीको मिलता है। इसीलिए जागृति के साथ मैत्री करना चाहिए।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवानयज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं चवर्धय
अथर्व १६-६३-१

महा शक्ति सम्पन्न व्यक्ति उद्योग द्वारा अपने अन्दर की देव शक्तियों को जाग्रत करले जिससे आयु, प्राण, प्रजा, पशु (सम्पत्ति) कीर्ति तथा यजमान (स्वयं यज्ञ करने वाला आत्मा) की वृद्धि हो।

कृतं मे दक्षिणे हस्ते, जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनञ्जयो हिरण्यजित्
अथर्व ७-५०-८

मेरे दाहिने हाथ में कर्म है और बायें में विजय। कर्म द्वारा गौ, घोड़ा, धन धान्य, सोना चांदी सभी मुझे प्राप्त हो जायगा।

मथुरा १ अक्टूबर सन् १९४८ ई०

क्या हम विद्वान हैं ?

स्कूल कालेजों में या और किसी जगह जहां कुछ पोथियां पढ़ीं, परीक्षायें दीं और प्रमाण पत्र प्राप्त किया कि बस हम समझ बैठते हैं कि अब विद्वान होगये। लेकिन हमारी यह समझ हमें धोखे में डालने वाली है। पढ़ने लिखने से विद्वत्ता का विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसका सम्बन्ध तो अनुभव से है। अनुभव ही वास्तविक ज्ञान का स्रोत है। जिसके पास अनुभव की कमी है, उसने जो कुछ पढ़ा है उसे उसके असली रूप में समझा है या नहीं यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्योंकि पढ़ी लिखी बात प्रयोग में न आने तक उसकी सत्यता की जांच होना कदापि संभव नहीं हो सकता। इसीलिए पढ़ लिखकर अनुभव में ले आने पर ही उस विद्या का सम्यक ज्ञान होता है।

लेकिन 'विद्या' कहते ही एक नई उलझन आखड़ी होती है। आर्य ऋषियों ने कहा है कि—सा विद्या या विमुक्तये—विद्या वही है जो मुक्त करती है। इसका अर्थ यही है कि जब तक हम पर दूसरे का तंत्र काम करता है तब तक हमारा पढ़ना लिखना बेकार है। पढ़ लिखकर परतंत्र को दूर करना और स्वतंत्र की स्थापना करना यही तो विद्या का उद्देश्य है। इस लिए जिन्होंने परतन्त्रता रूपी पाश को छेदकर स्वतंत्रता रूपी स्वभाव को जागृत किया है, उन्होंने ही विद्या पढ़ी है। वे ही विद्वान हैं।

स्वतन्त्र और परतन्त्र शब्दों में जिन स्व और पर की चर्चा की गई है उनकी वास्तविकता समझे बिना विद्या के महत्व को समझा ही नहीं जा सकता इसलिए इन दोनों की चर्चा कर लेना अत्यन्त आवश्यक है।

मानव का 'स्व' क्या है। कौन है जो सब कुछ स्व के लिए चाहता है। मेरे हाथ, मेरे पांव और मेरा शरीर कहकर सबके साथ नाता जोड़ने वाला यह 'स्व' चेतनात्मक आत्म देव के अतिरिक्त और कौन होसकता है। आत्मा शरीर से भिन्न है इसलिए स्व से भिन्न यह 'पर' तत्त्व देह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। देह तो पर का, मूर्तिमात्र है लेकिन उस पर का विस्तार समस्त सृष्टि में है। यह सारा स्थूल प्रपंच जो आत्मा से भिन्न है पर आत्मा सा ही दिखता है। 'पर' है। इसका नाम अविद्या है। यह अविद्या आत्मा को,'स्व'को, वास्तविकता को परदे से ढँक देती है। और तब वह स्वतन्त्रता खोकर परतन्त्र होजाती है। अपने को भूल जाना ही परतंत्रता है। यही सच्चा बन्धन है। जो पढ़ लिख कर इस बन्धन को तोड़ नहीं सका क्या उसे विद्वान कहा जायगा? कहना तो अलग रहा इस बात में भी सन्देह रहेगा कि उसने पढ़ा लिखा भी या यों ही प्रमाण पत्र हासिल कर लिया है। पढ़ने लिखने का सच्चा प्रमाण पत्र बन्धनमुक्ति अवस्था को प्राप्त करना है।

लेकिन हमारी पढ़ाई लिखाई का सम्बन्ध तो अविद्या के साम्राज्य का विस्तार करने से है, स्वराज्य की स्थापना से नहीं। क्योंकि हम देखते हैं कि पढ़ने लिखने वाला जैसे जैसे पढ़ने लिखने की सीढ़ियां पार करता जाता है वैसे २ ही वह बन्धनों से जकड़ता जाता है, आप्तकाम

आत्मा अपने में अनेकों अभावों कमियों की सृष्टि करती जाती है और जैसे २ कमियां बढ़ती जाती हैं वैसे वैसे ही आवश्यकताऐं बढ़ती जाती हैं, जिसकी जितनी अधिक आवश्यकताऐं हैं वह अविद्या के उतने ही अधिक फन्दे में फँसा हुआ है, वह उतना ही परतंत्र है। तब आज का पढ़ना लिखना विद्या का नहीं, अविद्या का ही हुआ और सो भी ऐसी अविद्या का जिसके द्वारा अविद्या के मूल स्वरूप को भी नहीं जाना जा सकता।

विद्या हो चाहे अविद्या, जब तक उसके मूल रूप को न समझा जावे तब तक पढ़ने का कोई अर्थ ही नहीं। पढ़ने का अर्थ है सम्पन्न होना। सम्पन्नता तभी आती है जब पूर्णता हो। जहां अभाव या कमी का अनुभव हुआ वहां पढ़ना लिखना सब बेकार। फिर विद्वत्ता कैसी ?

चाहे विद्या पढ़ी जावे चाहे अविद्या, दोनों का काम एक ही है। अविद्या की पूरी जानकारी कर लेने पर, उसका स्वरूप ज्ञान होजाने पर मनुष्य उसकी उपयोगिता या अनुपयोगिता से अपरिचित नहीं रहता। उसके फलाफल का उसे भलीभांति ज्ञान हो जाता है। ऋषि कहते हैं कि 'अविद्ययामृत्युं तीर्त्वा' अविद्या की जानकारी से मानव मृत्यु को पार करता है, मृत्यु के संकट से, मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। मृत्यु का भय सबसे बड़ा भय है, इस भय को पार करने के लिए अविद्या के सीखने की आवश्यकता है पर सीखकर भी जो मौत से डरते रहें क्या हम उन्हें विद्वान कहेंगे ? मृत्यु को खिलौना समझने वाले मानव ही अविद्या के आचार्य हैं, विद्वान हैं, पण्डित हैं ऐसा कहा जायगा। और जो अविद्या का पण्डित होगया, उससे विद्या का तत्व छिपा रह ही नहीं सकता। तब अपना अगला कदम बढ़ावेगा और 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' विद्या द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति करेगा। अमृतत्व की प्राप्ति ही सच्ची स्वतन्त्रता है। और यह स्वतन्त्रता ही मानव का लक्ष्य स्थल है। यही विद्या का फल है।

पढ़ लिखकर जिन्होंने उसका उपयोग नहीं किया, उनका पढ़ना लिखना बेकार है। जो ज्ञान काम में न आवे उसके अर्जन करने से लाभ ही क्या ? इसलिए विद्वान बनने की यही निशानी है कि जो कुछ पढ़ा गया है उसे जीवन में लाया जावे, उसे स्वभाव में दाखिल किया जावे और तब वास्तविकता को ग्रहण करके अवास्तविकता से अपना पिण्ड छुड़ाया जावे। अवास्तविकता से पिण्ड छुड़ाना ही वास्तविक मुक्ति है। यही विद्या का लक्षण और विद्वान का स्वरूप है।

कर्म द्वारा कल्याण की प्राप्ति।

(योगिराज श्री अरविन्द)

कार्य करने के लिए कर्म लेकर मस्त रहने से विशेष कोई फल प्राप्त नहीं होगा बल्कि इससे तो व्यर्थ ही शक्ति का नाश हो जायगा।

यद्यपि कार्य करना एक साधना है, अपने जीवन में हम जो कुछ कर रहे हैं, वह सब भगवान के लिए कर रहे हैं ऐसा समझ कर या ऐसा ज्ञान रखकर ही कर्म करना चाहिए। कुछ न कुछ करना ही चाहिए ऐसा समझ कर जो कुछ सामने आजावे उसी में लगजावें यह तो कोई उचित बात नहीं है। कर्म तो हमें करना ही चाहिए—लेकिन अन्तरात्मा की पूर्ण आज्ञा से। भीतर से जिस काम को करने के लिए हमें प्रेरणा मिले, उसी के अनुसार कर्म करने के लिए हमें तत्पर रहना चाहिए, प्रत्येक कार्य में भगवान का हाथ और उनकी लीला का दर्शन करते रहने की भावना और बुद्धि दोनों ही रहना चाहिए।

अज्ञान धारा की कर्म तरंग में अपने को प्रवृत्त कर देना ही मनुष्य का साधारण स्वभाव है। मनुष्य का यह स्वभाव जब तक आशा से भरापूरा रहता है तब तक तो वह अपने जीवन सुख के लिए अनेक तरह के काम करता रहता है लेकिन जैसे ही इन कार्यों में रुकावट डालने वाले प्रति घातक तत्व आजाते हैं वहीं मनुष्य का कर्मोत्साह भंग हो जाता है फलतः कुछ समय बाद जब उसे मालूम होता है कि अभिलाषायें पूरी नहीं हो रहीं, मन को शान्ति नहीं मिल रही यहां तक कि बुद्धि को भी पूरा सन्तोष नहीं मिल रहा तो वह निराश होकर खिन्न हृदय से अपने जीवन का सारा सामर्थ्य बल, पौरुष, खर्च करके और सारे उत्साहों को नष्ट करके विमुख हो जाता है।

आमतौर से या तो लोग भक्ति के आश्रित होकर कर्म करते हैं या फिर शक्ति के आश्रित होकर। पर सिद्धि दोनों में ही नहीं है। ज्ञान न होने से कोई भी कर्म पूरा नहीं हो सकता। भक्ति या शक्ति द्वारा संसार में जितने कार्य हुए हैं वे भगवान के कार्यों के मामूली क्षुद्रअंश हैं इस समय प्रयोजन है अध्यात्म ज्ञान का, प्रगाढ़ प्रेम एवं असाधारण शक्ति का, क्योंकि इनके बिना कर्म की परिपूर्णता नहीं होगी, कर्म की पूर्णता इन्हीं के द्वारा ही होगी।

इसलिए प्रत्येक साधक को ज्ञान में आरूढ़ होने की आवश्यकता है। उसी के सहारे नीरव-साधना में चित्त लगाकर काम करते जाना चाहिए, बाहरी उत्तेजना में न फँसकर, भीतर में भगवान की दिव्य मूर्त्ति को प्रकट होने देना चाहिए। ऐसी साधना से जो चीज पैदा होगी वह संसार भर की एक अपूर्व सम्पत्ति होगी। आज व्यक्ति कल्याण एवं समष्टि के कल्याण के लिए उसी की आवश्यकता है।

जीवन पर एक तात्विक दृष्टि।

(सन्त विनोबा)

जीवन तो भगवान की उपासना है, यह विचार नया नहीं है, बल्कि यह विचार तो ठेठ वेदों तक चला गया है।

समूचा जीवन उपासना मय है यह विचार प्राचीन ग्रन्थों में होने पर भी मध्य युग में कुछ फर्क पड़ गया। क्योंकि मध्ययुग में ऐसा विचार चलने लगा कि कर्म बन्धन कारक हैं, किन्हीं २ ने तो उन्हें मारक तक समझ लिया इसलिए कर्म का जितना त्याग किया जासका, किया गया और केवल भिक्षा मांगकर उदर पोषण करने की बात आरंभ हुई। मध्य युग में किसी भी सन्त की जांच की जाय तो उसके पीछे दिखाई देगा कि उसका कपड़े सीना खेती करना आदि कार्य पेट के लिए करता रहा है। दूसरों पर बोझ डालकर पेट भरने की वृत्ति से बचने के लिए उसका प्रयत्न है। लेकिन यह विचार धारा तो बुरी है। यह कार्य भी भगवत सेवा है वह इसे नहीं समझता। उसमें यह भावना काम कर रही होती है कि जो कुछ भजन पूजन जप किया जाता है वह ही हरि सेवा है, और सब काम तो केवल पेट के लिए हैं। नतीजा इसका यह हुआ कि सवेरे शाम जब कि भजन पूजन का समय होता तब आचार की शुद्धता पर ध्यान दिया जाता और शेष व्यवहार के समय में उसकी आवश्यकता न समझी जाती। यहां तक कि व्यवहार में असत्याचरण को भी स्थान मिल गया।

आचरण के बिना भक्ति अधूरी है। झूठी है

यह व्यर्थ हो जाती है। आज तो हालत यहां तक आपहुंची है कि ऊपर 'श्रीहरि' लिखकर नीचे जमा खर्च की बही में ५०) रुपये देकर १००) के कागज पर सही कराने जैसे जमाखर्च करने में लोगों को कोई अटपटापन नहीं मालुम होता।

आज के भक्त अथवा साधु के नियम में सोचा यह गया है कि वह अल्पभोजी हो और काम भी कम ही करे। साधु को ज्यादा काम करने की आवश्यकता ही नहीं है, अगर कोई साधु बरतन मांजने लगे तो लोग कहेंगे बरतन मलने से साधु को क्या सरोकार?

हमें समस्त जीवन भक्ति मय, उपासना मय बनाना होगा, इसीलिए मैंने एक व्रत सूत्र बनाया है—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह।
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन,
सर्वधर्मी समानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना,
हीं एकादश सेवावी नम्रत्वे व्रतनिश्चये॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, शरीर श्रम, अस्वाद, निडरपन, सब धर्मों में समानभाव, स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग, किसी को अस्पर्श न समझना यह ग्यारह व्रत नम्रता-पूर्वक आचरण में लाने चाहिए। इन व्रतों को भक्तिपूर्वक अमल में लावें, समस्त जीवन को उपासनामय बनावें, जो जो व्यवहार हम करें फिर चाहे वह बाजार का हो या रसोई का चाहे चक्की पीसने का ही क्यों न हो, सबको भगवत सेवा समझ कर करें तो हमारा काम खतम हुआ। हमारा ध्येय होना चाहिए कि हम जीवन के प्रत्येक काम से भगवान की उपासना कर रहे हैं। यही जीवन की वास्तविक दृष्टि है।

सार्वजनिक धर्म क्या है?

(जोजफ मेजिनी)

ईश्वर ने तुमको इस पृथ्वी पर रखा है और तुम अपने करोड़ों सजातीयों से घिरे हुए हो जिनके हृदय तुम्हारे हृदय से बलपाते हैं, जिनकी उन्नति या अवनति तुम्हारी उन्नति व अवनति के साथ और जिनका जीवन तुम्हारे जीवन के साथ मिला हुआ और बंधा हुआ है। एकान्त वास के भय और दुःख से बचाने के लिए ईश्वर ने तुमको ऐसी इच्छायें दी हैं जिनको तुम एकाकी अपनी शक्ति से पूरा नहीं कर सकते और जो हमेशा तुमको अपने साथियों के साथ मिलकर रहने की प्रेरणा देती हैं जिनके कारण तुम अन्य प्राणियों से अधिक महत्व रखते हो। ईश्वर ने तुम्हारे आस पास ऐसे प्राकृतिक दृश्य स्थापित किये हैं जो स्वाभाविक सुन्दरता तथा विचित्रता से युक्त हैं।

ईश्वर ने तुम्हारे हृदय में कई प्रकार की सहानुभूति और संवेदना शक्ति उत्पन्न की है जिसे तुमसे दूर नहीं किया जा सकता, यह शक्ति दुःखित मनुष्यों पर दया करने के रूप में, सुखी को देखकर प्रसन्न होने के रूप में, अत्याचारियों पर क्रोध करने के रूप में, सत्य की खोज में रहने के रूप में, सचाई को मनुष्य जाति पर प्रकट करने वाले के प्रति सहानुभूति के रूप में प्रकट होती है। ये सब मानवीय उद्देश्य के चिन्ह हैं जिनको ईश्वर ने तुम्हारे हृदय पट पर चित्रित कर दिया है। परन्तु तुम इनको स्वीकार नहीं करते बल्कि उलटा खण्डन करते हो।

यदि संसार में तुम्हारे आने का यह प्रयोजन नहीं है कि तुम अपने कर्त्तव्य की सीमा में और अपने हस्तगत साधनों के अनुसार ईश्वर की

इच्छा को पूर्ण करो तो फिर और कौनसा मतलब है? तुम्हारा मनुष्य जाति की एकता में जो ईश्वर की एकता का सुनिश्चित परिणाम है, विश्वास रखने का क्या फल है? यदि तुम उसकी सिद्धि के लिए उस अनुचित भेदभाव और विरोध को जो अभी तक मनुष्य जाति के भिन्न २ समुदायों में भिन्नता और पृथकता का कारण है, दूर करने का यत्न नहीं करते।

यह भूमि हमारा कर्मक्षेत्र है, हमें यह उचित नहीं कि हम इसे बुरा कहें बल्कि इसे पवित्र बनाना हमारा कर्त्तव्य है।

ईश्वर ने तुमको जीवन इसलिए दिया है कि तुम उसको मनुष्य जाति के हित में लगाओ और अपनी व्यक्तिगत शक्तियों को जाति गत शक्तियों के विकासका साधन बनाओ। जिस प्रकार एक बीज अपनी जाति की उन्नति के लिए अपने को खपा देता है उसी प्रकार तुम भी अपनी जातीय उन्नति के लिए स्वार्थ त्याग कर अपने को खपा दो। तुम्हारा धर्म है कि तुम अपने आपको तथा दूसरों को शिक्षा दो, स्वयं योग्य बनने तथा दूसरों को योग्य बनाने का यत्न करो।

यह सच है कि ईश्वर तुम्हारे भीतर है किन्तु वह पृथ्वी भर के सब मनुष्यों का आत्मा है। ईश्वर उन सब जातियों के जीवन में है जो हो चुकी हैं, हैं अथवा होंगी। उसकी सत्ता और उसके नियमों तथा अपने कर्त्तव्यों के विषय में जो सिद्धान्त मनुष्य जाति ने निश्चित किये हैं पिछली जातियां क्रमशः उनका संशोधन करती चली आई हैं। और आगे की जातियां भी क्रमशः उसी तरह संशोधन करती चली जायंगी। जहां कहीं ईश्वरीयसत्ता अपना प्रकाश करे, तुम्हारा धर्म है कि वहीं उसकी पूजा करो उसकी ज्योति चमकाओ। सारा विश्व उसका मन्दिर है और इस मन्दिर को अपवित्र करने का पाप उस मनुष्य के माथे पर रहेगा जो उसकी पवित्र इच्छा के विरुद्ध संसार में कोई काम होता हुआ देखकर चुप बैठा रहेगा।

यह कहना ठीक नहीं है कि हम निर्दोष हैं, दूसरे यदि पाप करते हैं तो इसमें हमारा क्या दोष? जब तुम अपने सामने या अपने पास पाप होता हुआ देखते हो और उसके विरुद्ध चेष्टा नहीं करते हो तो तुम अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते हो, क्या तुम सत्य और न्याय का अपने को उपासक कह सकते हो, जब कि तुम देखते हो कि तुम्हारे सजातीय भ्राता पृथिवी के किसी अन्य भाग में भ्रान्ति या अज्ञान में पड़े अपना जीवन नष्ट कर रहे हैं। और तुम उनको उठाने के लिए कोई सहारा नहीं देते।

तुम्हारे सजातीय भाइयों की नित्य आत्माओं में ईश्वर का प्रकाश धुँधला होगया है। ईश्वर की इच्छा तो यह थी कि उसकी उपासना उसकी आज्ञा पालन द्वारा की जावे, परन्तु तुम्हारे आस पास उसके कानून को तोड़ा जारहा है और उसकी अन्यथा व्याख्या की जारही है। उन लाखों मनुष्यों को मनुष्योचित अधिकारों से वञ्चित किया जारहा है और तुम चुपचाप बैठे हो। क्या इस पर भी तुम यह कहने का साहस कर सकते हो कि तुम उस पर विश्वास करते हो।

हमारा कर्त्तव्य है कि हम मनुष्य जाति को सिखलावें कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक अङ्गी के समान है और हम सब उसके अङ्ग हैं अतएव उस अङ्गी की पुष्टि और वृद्धि के लिए परिश्रम करना और उसके जीवन को अधिक उपयोगी और उद्यमी बनाना हम सबका [illegible] कर्त्तव्य है उन आत्माओं को भी उन्नत और पवित्र बनाना हमारा काम है जो स्वयं उन्नति और पवित्रता के विरोधी हैं। मनुष्य जाति के परस्पर मेल मिलाप से ही इस पृथ्वी पर ईश्वर की इच्छा पूरी हो सकती है। इस लिए हम सबको यहां एक ऐसी एकता स्थापित करना है जो सर्व साधारण को उन्नत करने वाली हो, जो भिन्न भिन्न भागों में विभक्त मनुष्यों को एकता में लाने वाली हो, और कुटम्ब तथा देश दोनों

को इस उच्चतम और पवित्र उद्देश्य के लिए प्रेरित और प्रवृत्त करे।

जिस प्रकार ईश्वर के नियम और उसकी दया सम्पूर्ण मनुष्यों के लिए है उसी प्रकार तुम्हारे वचन और कर्म भी मनुष्य मात्र के लिए होने चाहिए। तुम किसी भी देश विशेष में रहते होओ किन्तु जहां कहीं ऐसा व्यक्ति मिले जो सत्य न्याय धर्म के लिए लड़ रहा हो, तुम उसको अपना भाई समझो। चाहे कहीं पर किसी मनुष्य को भूल, अन्याय, अत्याचार के कारण कष्ट पहुंच रहा हो, वह तुम्हारा भाई है। स्वाधीन हो या पराधीन तुम सब भाई हो, तुम्हारी जड़ एक है। एक ईश्वरीय नियम के तुम सब अधीन हो और एक ही अभीष्ट स्थान पर तुम सबको पहुंचना है। अतएव तुम्हारा धर्म और तुम्हारे कर्म एक होने चाहिए। यह मत कहो कि मनुष्य जाति असंख्य और असीम है और हम अल्प एवं निर्बल हैं। ईश्वर बलको नहीं देखता, भाव को जांचता है। मनुष्य जाति को प्यार करो। जब तुम कोई काम अपने कुटुम्ब या देश की सीमा में आबद्ध होकर करने लगो तो पहले अपनी आत्मा से पूछो कि यदि यही काम जिसे कि मैं करने लगा हूं, सारे मनुष्य करते और सब मनुष्यों के लिए किया जाता तो यह मनुष्य जाति के लिए हितकर होता या अनिष्ट कर। यदि तुम्हारा आत्मा तुम्हें बतलावे कि यह अनिष्ट कर होगा तो कदापि उसका अनुष्ठान न करो, चाहे तुम्हें यह भी विश्वास हो कि इस कर्म का परिणाम तुम्हारे देश या कुटुम्ब के लिए शीघ्र हितकारी होगा।

तुम इस सार्वजनिक धर्म के उपासक बनो, जातीय एक्य और समता का उपदेश करो, जिसको आजकल सिद्धान्त रूप से तो माना जाता है किन्तु आचरण से नहीं। जहां कहीं और जितना तुम ऐसा कर सकते हो, ऐसा ही करो। इससे अधिक न ईश्वर तुम से चाहता है और न मनुष्य आशा कर सकता है। किन्तु मैं तुम्हें बतलाता हूं कि यदि तुम दूसरों को ऐसा न बना सको और केवल आप ही ऐसे बन जाओ तब भी तुम मनुष्य जाति की सेवा करते हो। ईश्वर शिक्षा की सीढ़ियों को नापता है, वह मनुष्य जाति को धर्मात्माओं की संख्या और अभिरुचि के अनुसार बढ़ने देता है और जब तुम में धर्मात्मा परोपकारी अधिक होंगे तो ईश्वर जो तुम्हें मिलता है, अपने आप तुम्हें बतलायेगा कि तुम्हें क्या करना चाहिए।

समय, शक्ति एवं साधन।

(श्री० अगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर)

किसी भी कार्य की सफलता समय शक्ति एवं साधन पर अवलम्बित है। इस साधन त्रिपुटी के बिना साध्य प्राप्ति असम्भव है। साधारणतया सभी व्यक्तियों को हम यही कहते पाते हैं, कि क्या करें, अमुक काम करने की इच्छा तो है पर अवकाश नहीं मिलता, अथवा शक्ति और साधनों की कमी है। पर वास्तव में विचार करके देखा जाय तो यह बात बहुत कुछ अंशों में सही नहीं है। कार्य न हो सकने का कारण समय, शक्ति और साधनों का अभाव उतना नहीं है, जितनी तीव्र इच्छा की कमी। उत्कट अभिलाषा और पूरी लगन हो तो समय मिल ही जायगा, साधन भी इकट्ठे हो ही जायंगे और शक्ति का स्रोत भी फूट निकलेगा। हम जिनकी कमी महसूस कर रहे हैं वे हमसे दूर नहीं हैं, पर दूर दिखाई देने का कारण है उनका दुरुपयोग। अर्थात् हम प्राप्त साधन, शक्ति एवं समय का सदुपयोग करना नहीं जानते। यदि

समय ही नहीं है तो कुत्सित वासनाओं एवं व्यर्थ के प्रपंचों और बुरे कामों को करने के लिये तीनों चीजें कहां से आजाती हैं ? इस पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने से हमारी गलत धारणा का सहज ही में पता चल जायेगा।

पग-पग पर हम अनुभव करते हैं कि जिस काम को हम सबसे अधिक आवश्यक समझते हैं, वही पहिले हो जाता है। किसी भी कार्य को करने को "समय नहीं है", कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा समय अन्य उपयोगी या आवश्यक कार्य (जिसे भी हमने मान रक्खा हो) में लगा हुआ है। यदि हम उसे गौण करके उसके स्थान पर, जिसे करना चाहते हैं, उसे प्रधान मान लेंगे तो वही समय पहले काम से निकल कर दूसरे के लिए लग जायेगा। उदाहरणार्थ हमारे सामने दो काम करने के लिए साथ ही उपस्थित हैं, जैसे भोजन करना और बीकानेर जाने के लिए गाड़ी पकड़ना। हमारी बुद्धि इनमें से अधिक आवश्यक कार्य पर विचार कर एक को पहिले ग्रहण करेगी। मान लीजिये, हमें यह अनुभव हुआ कि बीकानेर जाना ज्यादा जरूरी है और भोजन करने में समय देने पर गाड़ी न मिलेगी, तो हम भूखे ही रहकर समय पर स्टेशन पहुंचने के लिये तैयार हो जावेंगे। यदि हमें इसके विपरीत भोजन करना आवश्यक प्रतीत हुआ तो चट से भोजन करने बैठ जायेंगे, चाहे समय पर स्टेशन न पहुंचने पर गाड़ी छूट ही क्यों न जाये। यही बात अन्य सभी कार्यों के विषय में समझनी चाहिये। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि मौखिक रूप में चाहे हम किसी कार्य को अधिक आवश्यक बतलाते हुये उसके लिये समयाभाव कहदें, पर वास्तव में अनुभव यही होगा कि उसके लिये समय न मिलने का प्रधान कारण यह है कि उससे अधिक दूसरे काम को आवश्यक मानकर उसके लिये हमने अपना समय दे रखा है। समय तो है, उतना है ही, उसे किस काम में लगाना है, किस में नहीं, यह हमारी मनोवृत्ति पर निर्भर है।

अपने समग्र जीवन-काल पर जरा गहराई से विचार करें तो पता चलेगा कि समय तो हमारे पास बहुत है, लेकिन हम उसका ठीक से उपयोग नहीं कर पाते। मान लीजिये हमारी आयु ५० वर्ष की है। उसके दिन १८००० और उसके घण्टे चार लाख बत्तीस हजार होते हैं मिनट बनाइये दो करोड़ उनसठ लाख बीस हजार होंगे। अब प्रत्येक कार्य के लिए कितना समय चाहिये, इसका हिसाब लगाइये। आपको यह स्पष्ट अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा कि समय हमारे पास कम नहीं है। अतः समय की कमी का बहाना छोड़ देना ही उचित है।

दूसरी दृष्टि से विचार करें तो प्रतीत होगा कि व्यर्थ जाते हुए समय पर कड़ी निगरानी रखना आवश्यक है। जिन कामों में जितना समय लग रहा है, उससे कम समय में वह हो सकता है या नहीं ? सोचिये और जितने भी कम समय में वह होसके कर डालने का प्रयत्न कीजिये। इससे आपको बहुत बड़ी सफलता मिलेगी। मान लीजिये, आप सात घण्टे नींद लेते हैं, आधा घण्टे में खाते हैं, तथा पाव घण्टे में स्नान करते हैं। इसी प्रकार से अन्य काम करते हैं। अब आप प्रयत्न करिये कि नींद में आधा घंटे की बचत, खाने-स्नान करने में पांच-चार मिनट की बचत हो। इसी तरह जिन सैकड़ों कामों में, बातों में, आपका सारा समय लग रहा है, प्रत्येक में से यथा संभव बचत करिये तो बहुत से समय की बचत करके आप उसे उस अच्छे काम में लगा सकेंगे जिसे करने के लिए आपको समय ही नहीं मिल रहा था।

विचार करने पर बहुत से कार्य तो आपको 'अनावश्यक' प्रतीत होने लगेंगे, क्योंकि जब अमुक व्यक्ति के अमुक काम नहीं करने पर भी काम चल जाता है तो आपका क्यों नहीं चलेगा ? आप

वैसा मान रहे थे आपकी भ्रान्त धारणा ही परिणाम नजर आयेगा। आप स्वयं अन्य कोई काम उपस्थित होने पर उसे बिना किये काम चला लेते हैं तब उस समय भी चल सकता है। इस तरह जिनके न करने या कम करने से अधिक असुविधा उपस्थित न हो, उन्हें और उसके बदले कार्य-क्रम में अन्य कुछ कार्यों को नोट कर लीजिये। इसी प्रकार बुरी आदतों, कार्यों, व्यर्थ की बातें बन्द करने में जुट जाइये। थोड़े ही समय में आपके समय की कमी का प्रश्न हल हो जायगा।

अब साधनों को लीजिये विश्व में साधन सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। पद २ पर साधनों का ढेर लगा हुआ है, पर अपनी अज्ञानता वश हम उनसे लाभ नहीं उठा रहे हैं। जिसे काम करना है वह खोज में लग जायेगा और इधर-उधर साधनों को खोज निकालेगा व जुटा लेगा। आज यदि कम साधन मिले तो कोई बात नहीं, प्रयत्न चालू रहने पर कल और मिले जायेंगे कार्य करने वालों को साधन नहीं मिलेंगे, इस बात को आप मन से ही हटा दीजिये। आत्म-विश्वास को बढ़ाइये, साधन मिलके रहेंगे, बहुत से मनुष्य "इतनी सामग्री जुट जाय तभी काम शुरू करेंगे", यह निश्चय कर बैठते हैं, शक्ति को लगाते नहीं। अतः साधन पूर्ण नहीं होते और कार्य हो नहीं पाता। मेरी राय में जितने साधन प्राप्त हों उसी के अनुसार काम करना प्रारम्भ कर दीजिये। आपके पास सौ रु० की पूंजी है तो उसीके अनुरूप कार्य प्रारम्भ कर दीजिये। हजार के लिये नहीं बैठे न रहिये। काम करते रहेंगे, सफलता मिलती रहेगी, साधन जुटते रहेंगे। सच्ची लगन है तो सफलता अवश्य-भावी है। हताशमत हूजिये, घबरा कर काम छोड़िये मत, प्रयत्न करते रहिये। पूरे न सही तो जितने भी साधनों से काम प्रारम्भ करेंगे उतना फल तो कहीं नहीं जायगा, अन्यथा अधिक के पीछे थोड़ा भी खो बैठेंगे और इसके लिये आपको जीवनभर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

कुछ साधन बने—बनाये नहीं होते, तैयार करने पड़ते हैं और उन्हें हम उपेक्षा वश खो बैठते हैं। कुछ का उपयोग कर नहीं पाते, कुछ को पहिचानते भी नहीं। जहां २ जो भी गलती हो, सुधारिये। सच्चे खोजी के लिए साधन दुर्लभ नहीं हैं।

सच तो यह है कि समय की भांति साधनों का भी हम बहुत दुरुपयोग कर रहे हैं। मनीषियों का कहना है कि जो साधन पाप के हैं, वे ही धर्म के भी बन सकते हैं। साधनों का अच्छे या बुरे रूप में उपयोग बहुत कुछ हमारी विचार-धारा पर निर्भर है। धन को ही ले लीजिये। इसका सदुपयोग किया जाय तो बहुत-कुछ उपकार कर सकते हैं और भोग विलास एवं दूसरों को कष्ट देने के लिए लगावें तो उनसे बहुत अनिष्ट हो सकता है। अतः साधनों के सदुपयोग करने की कला भी ध्यान-पूर्वक सीखनी आवश्यक है। गुण और दोष हर चीज में मिलेंगे। हमारे में गुण-ग्रहण की दृष्टि होगी तो उनकी अच्छाइयों से लाभ उठायेंगे। दोषग्राही दृष्टि होगी तो दोष भागी बन जायँगे। वास्तव में साधन अपने आप में अच्छे-बुरे कुछ भी नहीं हैं, हम उनका जैसे उपयोग करना चाहें, कर सकते हैं।

एक ही वस्तु को प्राप्त कर एक सुखी होता है और एक दुखी। दूसरों की बात जाने दीजिये। अपने जीवन में ही कभी किसी चीज को प्राप्त कर हम आनन्द में फूले नहीं समाते और परिस्थिति की भिन्नता से वही वस्तु हमें अन्य समय में जहर सी लगने लगती है। अतः साधनों के सदुपयोग के सम्बन्ध में विवेक से काम लेना चाहिए। एक ही साधन पर अड़े न रहकर अपना काम दूसरे से निकल सकता हो तो उससे लाभ उठाने में चूकना नहीं चाहिए। एकान्त आग्रह न रख कर अनेकान्त दृष्टि से काम लेना चाहिए।

इसी प्रकार शक्ति पर भी विचार करिये

वास्तव में शक्ति कहीं बाहर से नहीं आती। समय और साधन तो बाह्य साधन हैं, पर शक्ति सब का मूल कारण है। उसका अक्षय भण्डार तो सबमें भरा पड़ा है, पर उपेक्षावश हम उसे भूल बैठे हैं, वह अन्दर दबी पड़ी है। अतः साधनों के द्वारा उसका विकास करना है, उसे प्रकाश में लाना है। उनकी कमी का अनुभव भी उस शक्ति के अन्य कामों में लगे रहने के कारण ही है। वास्तव में हमने अपनी शक्ति विविध कामों में बिखेर रक्खी है। उसे बटोर कर संचय करने की परमावश्यकता है। अनावश्यक एवं बुरे कार्यों में शक्ति का जो अपव्यय हो रहा है, उसे मिटाने पर पिल जाना पड़ेगा और आवश्यक कार्य में लगाकर अभ्यास के बल पर विकास करना होगा। आत्म-विश्वास एवं साहस की अभिवृद्धि करनी होगी। लुप्त प्राय एवं सुप्त चेतना को जागृत करना होगा।

संक्षेप में कहने का तात्पर्य यही है कि शक्ति संचय कीजिये, प्राप्त साधनों के अनुसार ही आगे बढ़िये, समय व्यर्थ खोने से बचाइये, सफलता आपकी मुट्ठी में है।

मानसिक संतुलन और समत्व।

(श्री० दौलतराम कटरहा बी० ए०, दमोह)

जब किसी वस्तु पर दो परस्पर विपरीत दिशाओं से एक बराबर आकर्षण होता है, जिसके कारण न तो वह वस्तु एक ओर ही झुकी हुई होती है और न दूसरी ओर ही, तब विज्ञान की भाषा में उस वस्तु की स्थिति संतुलित कही जाती है। उसी प्रकार जब सांसारिक पदार्थों में प्रवृत्ति होने की हम में जितनी शक्ति होती है उतनी ही उनसे निवृत्त होने की भी शक्ति होती है तब हमारे मन की अवस्था संतुलित होती है। जब हमें किसी पदार्थ के प्रति न तो राग होता है और न द्वेष, जब हमें किसी पदार्थ से न तो आकर्षण होता है और न विकर्षण, तब हमारी चित्त गति को समत्व-युक्त और संतुलित कहा जा सकता है। गीता इसी समत्व या संतुलन की शिक्षा देती है।

इस समत्व को आचरण में उतारने के लिए केवल विरागी अथवा रागहीन होने से ही कार्य न चलेगा। संतुलित अवस्था तो तब होगी जब आप रागहीन होने के साथ साथ द्वेष-हीन भी होंगे। हमारे भारतीय साधुओं ने यही भूल की। वे होने के लिए तो विरागी हो गए पर साथ २ अद्वेषी (अद्वेष्टा) न हुए। राग से बचने की धुन में उन्होंने द्वेष को अपना लिया। संसार के सुख दुख से सम्बद्ध न होने की चाह में उन्होंने संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और उसकी सेवाओं से अपना मुख मोड़ लिया।

जब दो गुण ऐसे होते हैं जो मनुष्य को परस्पर विपरीत दिशाओं में प्रवृत्त करते हैं, तो उनके पारस्परिक संयोग से चित्त की जो अवस्था होती है उसे भी संतुलित अवस्था कहते हैं। दया मनुष्य को दूसरों का दुख दूर करने में प्रवृत्त कराती है पर निर्मोह या निर्ममत्व मनुष्य को दूसरों के सुख दुख से सम्बन्धित होने से पीछे हटाता है। अतएव दया और निर्ममत्व दोनों के एक बराबर होने से चित्त संतुलित होता है। जहाँ दया मनुष्य को अनुरक्त करती है वहां निर्ममता विरक्त। दया में प्रवृत्तात्मक और निवृत्तात्मक शक्ति है। उसी तरह संतोष और परिश्रम-शीलता एक दूसरे को संतुलित करते हैं। परिश्रम-शीलता में प्रवृत्तात्मक और संतोष में निवृत्तात्मक शक्ति है। उसी तरह सत्यता

और मृदु-भाषिता, सरलता और दृढ़ता, धृति और उत्साह, विनय और निर्भीकता, नम्रता और तेज, निरहंकारता और आत्म-विश्वास, प्रेम और अनभिष्वंग, सेवा और अनासक्ति, निर्ममत्व और आत्मभाव, शुचिता और घृणाहीनता, श्रद्धा और आत्मनिर्भरता, स्वतंत्रता और उत्तर-दायित्व, तितिक्षा और आत्म रक्षा, दृढ़ता और हठ-हीनता, विराग और अद्वेष, स्वच्छन्दता और संयम-शीलता, निष्कामता और आलस्य-हीनता, अपरिग्रह और द्रव्योपार्जन-शक्ति, निर्वैरता और सावधानता, धैर्य और प्रयत्न-शीलता, प्रताप और सरलता, ओजस्विता और मृदुता, प्रभुत्व और कोमलता, योग्यता और निरभिमानता, क्षमा और जन्युत्व, सहिष्णुता और शक्ति-सम्पन्नता परस्पर एक दूसरे को संतुलित करते हैं। इन युग्मों में से यदि केवल एक का ही विकास हो और दूसरे के विकास की ओर ध्यान न दिया जावे तो मनुष्य का व्यक्तित्व असंतुलित एवं एकांगी हो जावेगा। श्रद्धालु व्यक्ति में श्रद्धेय व्यक्ति के अनुगमन करने तथा उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति होती है, स्वतंत्रता प्राप्त व्यक्ति पर अंकुश न होने से उसमें निरंकुशता और उच्छृंखलता बढ़ सकती है, दृढ़ प्रकृति व्यक्ति में हठ करने की प्रवृत्ति हो सकती है, प्रभुत्व शाली व्यक्ति में अभिमान बढ़ सकता है इत्यादि, अतएव जब तक इन व्यक्तियों में क्रमशः आत्म निर्भरता, उत्तर दायित्व, हठ-हीनता और निरभिमानता का विकास न होगा तब तक पूर्वोक्त गुण अपनी अपनी-सीमा के भीतर न रहेंगे। अतएव उपरोक्त युग्मों में से प्रत्येक गुण एक दूसरे को मर्यादित करता है और एक दूसरे का पूरक है।

जब मनुष्य में दंड देने की सामर्थ्य रहते हुए भी, अपमान सहन करने की क्षमता होती है, जब वह अहिंसा व्रत पालते हुए भी अपराधियों को अधिकाधिक उच्छृंखल, उद्धत, अभिमानी और निष्ठुर नहीं बनने देता, जब वह सेवा व्रती होते हुए भी सेव्यजनों को आलसी पर-मुखापेक्षी और अकर्मण्य नहीं होने देता, जब वह क्रोध में होते हुए भी अनुशासन और नियन्त्रण बनाए रखना जानता है, जब उनमें भक्ति और उत्साह होते हुए भी दास-वृत्ति और उतावलापन नहीं होता, जब वह सफलता में विश्वास रखते हुए भी कार्य करने में लापरवाही नहीं करता, जब वह त्यागी होते हुए भी विपदों का लोभ नहीं बढ़ाता, जब वह मान-सम्मान की परवाह न करते हुए भी लोककल्याण करने वाले शुभ कर्मों के करने में पूर्ण उत्साही होता है, जब वह अपमान से दुखी न होते हुए भी अपमान-जनक कार्य न करने का संयमी एवं आत्मनिग्रही होता है, जब वह शुभकर्मों को करने के लिए बाध्य न होते हुए भी स्वेच्छा से उन्हें तत्परता पूर्वक अच्छी तरह करता है, जब वह किसी कार्य के प्रवृत्त होने के साथ साथ उससे निवृत्त भी हो सकता है तब उसके चरित्र और गुणावलियों में संतुलन आता है।

जब दो विचार-धाराएं मनुष्य से भिन्न २ क्षेत्रों में कार्य कराती हैं तब उनके समन्वय से जो स्थिति होती है उसे संतुलित विचार-धारा कहते हैं। आत्म सुख की भावना बहुधा मनुष्य को स्वार्थ मय कर्मों में प्रवृत्त करती है और लोक सुख की भावना लोक कल्याण के कार्यों में। अतएव आत्म सुख और लोक सुख दो विभिन्न दृष्टि-कोण हुए। इनके समन्वय से जो मध्यम-स्थिति उत्पन्न होती है वही संतुलित विचार-पद्धति है। उसी प्रकार जिसकी विचार धारा में पूर्व और पश्चिम के आदर्शों का समन्वय भौतिक वाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, आदर्श और यथार्थ का समन्वय हुआ है और जो मध्यम मार्ग को अपनाए हुए हैं उसी की विचार-धारा संतुलित है।

जब हम किसी एक ही कार्य के पीछे प[illegible] जाते हैं अथवा जब हम किसी कार्य में आ[illegible] करने के कारण दूसरे करणीय कार्यों को भ[illegible]

जाते हैं तब हमारी कार्य-पद्धति असंतुलित होती है। यदि हम एक दम धन कमाने के पीछे पड़ जावें, अथवा यदि हम केवल पढ़ने पढ़ने में ही अपना सारा समय बिताने लगें तो हमारी कार्य पद्धति असंतुलित होगी। यदि कोई विद्यार्थी अपने हस्तलेखन की केवल गति ही बढ़ाने पर ध्यान दे और अक्षरों की सुन्दरता पर ध्यान न दे तो आप उसके प्रयत्न को क्या कहेंगे? उसी प्रकार यदि किसी देश में ऐसा कोई आयोजन हो कि केवल शिक्षा की क्वालिटी या उसकी उत्कृष्टता पर ही एक मात्र लक्ष्य हो और इस बात का ध्यान न हो कि शिक्षा अधिक से अधिक संख्या के लोगों को उपलब्ध हो सके तो उस देश के शिक्षा शास्त्रियों की कार्य पद्धति असंतुलित ही कही जायगी। यही बात मानव जीवन पर भी घटित होती है। हमें केवल एक ही दिशा में घुड़दौड़ नहीं मचानी चाहिए वरन् सब दिशाओं में समुचित विकाश करते हुए मानसिक संतुलन को बनाये रखना चाहिए तभी हम अगाध मानसिक शान्ति के दर्शन कर सकेंगे।

प्राचीनता को नहीं, सत्य को देखो।

(श्री शिवनारायणजी गौड, नीमच)

बालक यदि मचल जाय तो खिलौने से फुसलाया जा सकता है, परन्तु यदि विद्वान ही मचल जाय तो?

हमारे विद्वान भी आज मचल रहे हैं। उनके सामने बहुत बड़ी संभावनाओं का द्वार खुला है और वे निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि अपनी किस किस संचित विधि को साथ लेकर वे आगे बढ़ जांय। उनके पास वेद-शास्त्रों का स्तोम है, उपनिषद् वेदान्त की परम्परा है, रूढ़ियों की शृंखला है, बरसों से चले आते भिन्न २ विचारों का सम्मिश्रण है, और दिग्दिगन्त के आपात होने वाले सत्सिद्धान्तों का अनन्त-प्रवाह है। उनमें से किन्हें साथ में लें और किन्हें त्याग दें यही कुछ समझ में नहीं आता है। कई दिनों के भूखे को जैसे भोजन करना भी कठिन हो जाता है उसी प्रकार चिरजिज्ञासु भारत को अपने अपार कोष में से किसी का भी विशेष उपयोग करने का साहस नहीं हो रहा है। अमृत की संतान विष के भय से अन्य रसा-[illegible] में [illegible] है।

सौभाग्य से कहें या दुर्भाग्य से, धर्म व और उसी प्रकार ज्ञान का तत्व, गुहा में निहि है और वह गुहा चाहे मानस की गुहा हो [illegible] अज्ञेयता की, परन्तु उसका ज्ञान हो सकता [illegible] केवल अन्तर्दृष्टि से। हमारे मन्त्रदृष्टा ऋषि [illegible] इसीलिए प्रमाण हैं कि वे मन्त्रों के दृष्टा [illegible] सृष्टा नहीं। परन्तु परम्परा में वही वस्तु भि[illegible] भी बन जाया करती है। एक पंक्ति में पास [illegible] व्यक्तियों को एक छोर से दूसरे छोर तक [illegible] दूसरे को संदेश पहुंचाने में ही भिन्नता हो जा[illegible] है तो काल और प्रकृति की भिन्नता से गुजरते ज्ञान की वस्तुस्थिति में कुछ अन्तर आ जाय [illegible] क्या आश्चर्य है? ज्ञान का माध्यम बदल गर[illegible] वैदिक प्राकृत से हम प्रान्तीय भाषा में आ पहुं[illegible] हैं ज्ञान के पात्र बदल गये—तथा हम अ[illegible] पूर्वजों को पूर्णतः समझने का दावा कर सक[illegible] हैं? हमारी स्थिति बदल गई, रीति रिव[illegible] बदल गये, सामाजिक स्थिति बदल [illegible] धर्म की धारणायें बदल गईं। राजनीति, [illegible]

और विधान बदल गये, देश की स्थिति बदल गई, मनुष्यों की दशा बदल गई, वातावरण बदल गया, संक्षेप में हम पूर्णरूप से बदल गये, परन्तु सोने से जागने पर हम व्यतीत हुई कल के लिए मचल जांय वैसी ही कुछ हमारी दशा है।

वातावरण से युक्ति बिठाना मनुष्य का स्वभाव है। जाने अनजाने वातावरण हमें अपने में मिला लेता है। आदिम मांसजीवी आगे चलकर अहिंसक बन जाते हैं, संस्कृतभाषी हिन्दी भाषी बन जाते हैं, आर्य, हिन्दू हो जाते हैं, झगड़ने वाले जैन व सनातनी मित्र हो जाते हैं, विरोधी बौद्ध व वैदिक अभिन्न हो जाते हैं, चार्वाक व बार्हस्पत्य विलय को प्राप्त कर लेते हैं, यज्ञ का स्थान मूर्ति ले लेती है, सूर्य का आसन विष्णु को मिल जाता है, वरुण, मरुत् यम का स्थान तैतीस करोड़ देवता ले लेते हैं, रुद्र भांग धतूरा खाने लग जाते हैं, औपनिषदक ब्रह्मवाद-शांकर, वेदांत, रामानुज वेदान्त व कई वादों में बदल जाता है, एक गीता का सैकड़ों प्रकार से अर्थ—प्रवचन होता है, वेद के विभिन्न अर्थ सम्प्रदाय बन जाते हैं, पूजा की अनेकों विधियां हो जाती हैं, उपासना की असंख्य पद्धतियाँ हो जाती हैं, सामाजिक रीतियों में विभिन्नता की बाढ़-सी आ जाती है, विचारसरणि के विस्तार का पारावार नहीं रहता, परन्तु यह सब जैसे हमारे लिये है ही नहीं। हमारी दृष्टि उड़कर एक ही बिन्दु पर पड़ती है—बीच का व्यवधान हमारे लिए असिद्ध ही रहता है। और मनुष्य की सीमित बुद्धि में समा ही कितना सकता है? एक बात को ग्रहण करने जाते हैं तो दूसरी छूट जाती है, हिन्दुत्व को पकड़ने जाते हैं तो आर्यत्व रह जाता है, हिन्दुस्थान का पल्ला पकड़ते हैं तो भारतवर्ष और आर्यावर्त छूट जाते हैं, स्मृति की उपासना करते हैं तो श्रुति रह जाती है, वर्तमान ईश्वर को लेते हैं वैदिक इन्द्र रह जाते हैं और अधुना तन प्रार्थनाओं को अपनाते हैं तो वैदिक इष्टियां बच रहती हैं।

परम्परा में विरोध तो नहीं रहता परन्तु गतिमय परिणमन होता है। हमारा वर्तमान, अतीत का विरोधी नहीं प्रत्युत उसका स्वाभाविक परिणाम है। परन्तु परिणाम को पूर्वावस्था में ले जा सकना क्या इतना सरल है? वर्तमान यन्त्राधिपति को प्राचीन कुटियों में पहुंचा देने की क्षमता किसमें है? वर्तमान अर्थ प्रधान धर्म को यज्ञ-प्रधान धर्म में पहुँचा सकने की सामर्थ्य किसमें है? वर्तमान कूटनीति को धर्मनीति में बदलने की शक्ति किसमें है? हमारा उत्तर हो सकता है प्राचीनता को अपना लेने के रूप में। और यह उपयुक्त भी है, परन्तु वृद्धावस्था को बाल्यावस्था में परिवर्तित करने का इच्छुक जिस प्रकार अपने आजीवन उपार्जित संस्कारों को नहीं छोड़ सकता उसी प्रकार अपनी प्राचीन संस्कृति को लेकर चलने वाला अमृतमय देश भी अपनी इन सबलताओं और दुर्बलताओं को नहीं छोड़ सकता। अपने उपार्जित आचार-विचार और रीति-नीति को वह उनकी इयत्ता में ही बदल सकेगा उनके बाहर जाकर नहीं। वर्तमान की आर्थिक समस्या वर्तमान स्थिति से ही बदलेगी प्राचीन स्थिति से नहीं, वर्तमान राजनीतिक समस्या वर्तमान परिस्थिति से ही हल होगी प्राचीन स्थिति से नहीं, वर्तमान धार्मिक समस्याओं का हल वर्तमान ही करेगा अतीत नहीं।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमारा धर्म ही बदल जायगा या हम अपने धर्म को नष्ट करते चलेंगे। जिस प्रकार वर्तमान रूप में पहुंच कर भी हम अपने पूर्वजों के वारिस हैं उसी प्रकार हमारा प्राचीन धर्म भी हमारी सीमितता में पहुंच कर भी वैसा ही गरिमामय रहेगा। भिन्न पात्रों में पहुंच कर जल की आकृति भिन्न हो जाती है, वायु दबाव से हल्की या भारी बन जाती है, अग्नि गुप्त से प्रकट और प्रकट से गुप्त हो जाती है, पृथ्वी भिन्न२ रूपों में पृथ्वी ही बनी रहती है, घट और पट की पृथ्वी एक ही रहती

है, घटाकाश और मठाकाश भिन्न नहीं, फिर हम अल्पात्माओं में रहने वाला हमारा धर्म ही क्या कुछ हीन हो जायगा ? लाखों की सम्पत्तिवाले का लाख का दान दो पैसे वाले के दो पैसे के दान से निम्न है। श्रद्धा से की गयी पूजा अश्रद्धा के यज्ञ से बढ़ कर है। सच्चे हृदय से लिया गया ईश्वर का नाम जीवन भर के नाम स्मरण से उत्तम है, शबरी के झूठे बेर स्मार्त भोगों से उच्चतर हैं और दिखाने के लिए किए गए धार्मिक कृत्य कभी पाप-कृत्य भी हो जाया करते हैं, यह हमारा सदा का अनुभव है। परन्तु फिर भी हम धर्म की आत्मा में न घुसकर ऊपर ही से उसे हड़प जाना चाहते हैं। हमारा धर्म तो अब प्रचार धर्म रह गया है। धर्म की दुहाई देना ही हमारे लिए धर्म है। धार्मिकता का दिखावा करना ही हमारे लिए श्रद्धा का पात्रत्व है और धर्म २ चिल्ला कर अधर्माचरण भी हमारे लिए क्षम्य बन जाता है।

परन्तु हम तो मचल पड़े हैं धर्म के नाम पर। और दुर्भाग्य यह कि भटक गये हैं हम आन्तरिक और बाह्य दोनों धर्मों से धर्म का आन्तरिक रूप श्रद्धा, विश्वास और नैतिकता है और बाह्य रूप है—धार्मिक रूढ़ियां और बाह्याचार। प्राचीनता की दृष्टि से कई बाह्याचार हमें बाद की उपज मालूम पड़ते हैं और एक समूह का विरोध हमें लेना पड़ता है अतः इसे भी हम छोड़ देते हैं। नवीनता की दृष्टि से विश्वास और नैतिकता वर्तमान से बेमेल मालूम पड़ते हैं और इसमें भी हमें ढिलाई करनी पड़ती है। निदान हम धर्म को ही छोड़ उसके नाम को पकड़ लेते हैं और आचरण की अपेक्षा आक्रोश को ही ग्रहण करते हैं। इसमें चाहे धर्म रहे चाहे जाय, हमें इसकी चिंता नहीं रहती। हमें तो अपने मन की तुष्टि करनी है। जो हमारे मन के अनुसार धर्म का रूप सामने रखे वही सच्चा धर्मात्मा और धर्म-रक्षक है, परन्तु जो हमारे मन से किञ्चित् भी भिन्न प्रवचन करे वह धर्म द्वेषी है, धर्महन्ता है, धर्मनाशक है।

अमृत की सन्तान! धर्म पर दृष्टि डालो! धर्म के मर्म को समझो। सच्चे धर्म का आचरण करो। धर्म वही नहीं है जिसे तुम धर्म समझो। धर्म वही है जो धार्मिक तत्वयुक्त हो। धर्म वही नहीं है जिसे अधिकतर लोग धर्म समझें। दुनिया में सत्य से बढ़कर क्या कोई धर्म है ?

संसार के किसी भी धर्म या सम्प्रदाय ने क्या कभी सत्य का विरोध किया है ? संसार के किसी भी व्यक्ति को क्या इस विषय में शंका है ? फिर अमृत पुत्रो ! सत्य के पुजारियों का तुम क्यों विरोध करते हो ? सत्य किसी के अपने घर की उपज तो नहीं है ? फिर सत्य के प्रयोगों की ईमानदारी में विश्वास क्यों नहीं करते ? सत्य को बन्धन में मत बांधो, उसके विशुद्ध रूप का दर्शन करो भले ही प्राचीनता के साथ संगति न बैठती हो। याद रखिए "पुराण-मित्येव न साधु सर्व" जो पुराना है वह सब अच्छा ही नहीं है। हमें सत्य की ही श्रेष्ठता को स्वीकार करना है।—

'आज' ही कर लें।

(प्रो० रामचरण महेन्द्र बी० ए०)

आपने उन्नति की योजनाएँ बनाई हैं, आपके मनमें शुभ विचार क्रियात्मक भावनाएँ उदित हुई हैं। आप सोचते हैं "कल से इन योजनाओं के अनुसार कार्य प्रारंभ करेंगे।"

और यह "कल" नहीं आता। कल आप सोचते हैं, परसों करेंगे, या नरसों। और फिर

यह कहने लगते हैं " फिर देखा जायगा "। इस प्रकार आप शुभ विचारों और नई योजनाओं को निरन्तर टालते जाते हैं। कल, परसों, पन्द्रह दिन पश्चात्, एक मास बाद, अगले साल आप कोई भी उन्नति नहीं करते। धीरे २ वे शुभ भावनाएँ मन जगत् से बिल्कुल विलुप्त हो जाती हैं।

टालने की आदत मानव-मस्तिष्क की एक बड़ी कमजोरी है। अनेक बार उत्कृष्ट व्यक्ति भी इसी आदत से लाचार होकर पवित्र कार्य नहीं कर पाते। उनके दान, यज्ञ, सद्कर्म, पूजा, पाठ, सद्ग्रन्थावलोकन, यात्रा, सत्संग—सब किसी अगले दिन की प्रतीक्षा देखा करते हैं। वास्तव में सच्ची बात तो यह है कि उनमें आलस्य की मात्रा अत्यधिक होती है। वह उनकी कार्य शक्ति को पंगु कर देती है। पुनः पुनः इसी टालने की आदत दुहराने से यह उनके स्वभाव का एक अंग बन जाती है। जीवन पर्य्यन्त वे इसके कारण दुःख उठाते हैं। हमारी दीनता, दुःख, निम्न स्थिति का एक यह भी कारण हो सकता है।

उन्नति का रहस्यः—मानसशास्त्र का यह अटल सिद्धान्त है कि मनुष्य मन की सबल भावना से अपने तन, मन, धन, शरीर, आत्मा, तथा शोचनीय स्थिति को स्वयं बदल सकता है। उसके उन्नति के मार्ग की चाबी यह मन की सबल भावना ही है। जो व्यक्ति यह जानता है कि उसके पास सब कुछ एकत्र कर दिया गया है, और उसकी चाबी भी उसी को दे दी गई है वह अपने मस्तिष्क के उन असंख्य जीवाणुओं को जाग्रत करता है, जिसमें असाधारण सामर्थ्य भरा हुआ है। मन की सबल भावना को जाग्रत करना उन्नति का रहस्य है।

टालने की आदत से मुक्त होने के लिए मनुष्य को मन की सबल भावना से काम लेना चाहिए। आप मनमें यह दृढ़ विचार कीजिये कि आपमें पूरी योग्यता है, बुद्धि अत्यन्त कुशाग्र है, योग्यता भरी पड़ी है, आप प्रत्येक कार्य करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं, आलस्य में आप समय का अपव्यय नहीं करते वरन् तुरन्त काम को पूरा करने में जुट जाते हैं। आप आलस्य में डालकर अपने मस्तिष्क के जीवाणुओं को मृतप्राय नहीं करना चाहते वरन् उनका अधिकाधिक उपयोग कर उन्हें और सशक्त बनाते हैं।

जिस प्रकार शारीरिक व्यायाम से शरीर बलवान् बनता है, उसी प्रकार मानसिक व्यायाम से मस्तिष्क के अणुओं की शक्तियां बढ़ाई जा सकती है। तर्कशक्ति, तुलनाशक्ति, स्मरण और लेखन शक्ति, मनन, उद्योग, दृढ़ता प्रतिभा इत्यादि सभी शक्तियाँ मस्तिष्क के निरन्तर उपयोग से बढ़ाई जा सकती हैं।

आप ज्यों ज्यों अपने मस्तिष्क से अधिक कार्य लेते हैं, तो उसी भाग में रक्त का संचार बढ़ जाता है। रक्त के संचार से गति के अनुसार वह भाग पुष्ट होता है। उसमें अणुओं की संख्या में भी वृद्धि होती है। शरीर के किसी भी भाग में मन को एकाग्र करने से रक्त की गति बढ़ती है।

आलस्य का कुत्सित प्रभाव—दूसरी ओर आलस्य लीजिये। जब आप मन या शरीर को आलस्य में डाले रहते हैं तो उसकी तेजी मारी जाती है। वह अपनी उत्पादक शक्ति से विमुख हो जाता है। रुधिर की गति क्षीण हो जाती है, मानसिक शक्तियां अपना काम धीरे धीरे करने लग जाती हैं। तर्क शक्ति तो उपयोग और काम में लाने के बिना मृतप्राय हो जाता है। स्मरण शक्ति उद्योग से बढ़ती है, पर मन को ढीलाढाला डाले रखने से क्षीण होती है। लेखन शक्ति का यह नियम है कि रोज कुछ न कुछ लिखा जाय लेखन कार्य को किसी भी दिन न छोड़ा जाय अभ्यास से ही इसका विकास संभव है। दृढ़ता का अभ्यास धीरे धीरे होता है। अब आप

सोचिये, कि यदि आप तर्क, तुलना, दृढ़ता, प्रतिभा इत्यादि को जरा भी ढीलढाल देंगे, तो अपने साथ कैसा भारी अन्याय करेंगे। आलस्य तथा मानसिक शक्तियों का अनुपयोग विनाश का कारण है, उनका उचित उपयोग, अभ्यास, कार्य, वृद्धि तथा उन्नति के उपाय हैं। अपनी प्रत्येक शक्ति से अधिक से अधिक कार्य लीजिये। जितना ही आप काम लेंगे, उतना ही आप उनकी शक्ति में वृद्धि करेंगे। जितना ही उन्हें आलस्य में डालेंगे, उतना ही पतन करेंगे—यह मनोविज्ञान का अटल नियम है।

आरोग्यता के मित्र धूप, हवा और प्रकाश।

जब किसी आदमी को ऐसे स्थान पर रख दिया जाता है जहां उसे न तो धूप मिले न रोशनी मिले और न हवा तो वह मुरझाने लगता है, पीला पड़ने लगता है रक्त के लालकण कम होने आरंभ हो जाते हैं और सफेद कणों की संख्या बढ़ जाती है। धीरे धीरे वह व्यक्ति रोगों से घिर जाता है। तब डाक्टर लोग उसे किसी पहाड़ी स्थान पर ले जाने की सलाह देते हैं, इस सलाह में क्या रहस्य है, आइए इसी पर विचार करें।

पहाड़ में हवा की प्रचुरता रहती है, वहां की आबादी घनी नहीं होती और साथ ही वहां घूमना फिरना भी रहता है जिससे अधिक से अधिक धूप, रोशनी और खुली हवा मिलती है, मरीज वहां से निरोग होकर आजाता है। पर जो पहाड़ पर न जाकर यहां भी खुली हवा का सेवन करता है, धूप और रोशनी के सम्पर्क में रहता है वही फायदा उठा लेता है जो पहाड़ पर उसे मिलता है। इसलिए फायदा करने वाला पहाड़ नहीं है। फायदा करने वाली तो हवा है, धूप है और रोशनी है।

देखा गया है कि गांवों की अपेक्षा शहरों में रोग और रोगियों की संख्या बराबर बढ़ रही है। शहरों में जैसे जैसे बस्ती बढ़ती जाती है वैसे वैसे ही रोग भी बढ़ते जाते हैं। बस्ती बढ़ाने के लिए आस पास के दरख्त और जंगल काटे जारहे हैं। जीवनी शक्ति देने वाले पेड़ और जंगलों का कटना भी तो एक तरह से रोग को निमन्त्रण देना है। घनी बस्ती, प्राणियों के मुँह से निकली हुई सांस में प्राणनाशक वायु की वृद्धि और उसे नाश करने वाले या खाने वाले पेड़ पौदों का अभाव ये सब मिलकर प्राणी पर एक साथ आक्रमण करते हैं। उस आक्रमण से बचाव का साधन उन पर होता नहीं, बल्कि जो धूप—गर्मी प्राणी की रक्षा करती है, साधनों की कमी के कारण वह भी नाश का रूप धारण कर लेती है। वह शिव की जगह रुद्रमूर्ति धारण कर लेती है। और नाश का कारण बन जाती है।

सभी जानते हैं कि सूर्य की किरणों में अनेक रंग होते हैं, कोई रंग किसी की रक्षा करते हैं कोई किसी की, कोई किसी का नाश करते हैं कोई किसी का, रंगों के आधार पर ही रक्षा और नाश का बहुत सम्बन्ध है, ये रंग ही धूप करते हैं, रोशनी करते हैं, इन्हीं से ठण्डक होती है, इन्हीं से गर्मी। जितनी जिसमें जीवनी शक्ति बढ़ी रहती है उतनी ही उसमें ठण्ड और गर्मी की शक्ति रहती है। शीतकाल में नंगे रहने वाले लोगों को भी देखा होगा, वे कैसे हट्टे कट्टे व स्वस्थ दिखाई देते हैं, ठण्ड का कतई असर उन पर नहीं होता, चिलकती धूप में नंगे पांव और नंगे शरीर रहने वाले लोगों को भी देखा होगा, पर वैसे लोगों की अपेक्षा उन लोगों का स्वास्थ्य कितना नाजुक होता है जो तेज धूप में

अँधेरी कोठरियों की शरण लेते हैं और ठण्ड में मनों कपड़ों का वजन शरीर पर लाद लेते हैं। ये सारी की सारी हालतें ऐसी हैं जिससे मनुष्य की जीवनी शक्ति का जितना ह्रास हुआ है उसका अच्छी प्रकार पता दे देती हैं।

धूप, रोशनी और हवा से बचने की आदत ने मनुष्य की जीवनी शक्ति को यहां तक कम कर दिया है कि आज मनुष्य की औसत आयु २२ वर्ष की रहगई है। एक जमाना था कि जब हम भारतवासी प्रकृति की छत्रछाया में रहते थे, १०० वर्ष से कम आयु किसी की नहीं होती थी, रोग का नाम भी लोग नहीं जानते थे, १०० वर्ष के लोगों की दृष्टि भी इतनी तेज होती थी कि उन्हें चश्मे की जरूरत ही नहीं पड़ा करती थी। आज घर घर रोग का वास है १०-१५ वर्ष के बच्चे की आंखों पर भी चश्मा चढ़ा हुआ देखा जा सकता है। क्या कारण है इसका एक मात्र कारण है स्वाभाविक जीवन की कमी। और उसके कारण जीवनी शक्ति का ह्रास।

भारतवर्ष के प्राचीन काल में बड़े बड़े वन थे, विद्यार्थी उन्हीं बनों में ऋषियों के समीप रह कर अध्ययन करते थे। शरीर पर एक लँगोटी के अलावा कपड़े का नाम निशान भी न होता था। दिन में धूप, और रोशनी खूब मिलती। गन्दी हवा का तो पता भी नहीं मिलता। वृक्षों से शीतलमन्द सुगन्ध वायु बहती। चारों ओर जीवन ही जीवन बिखरा रहता। सभी स्वस्थ रहते। नतन्द्रा रहती और न प्रमाद। दिमाग के सभी रास्ते ज्ञान ग्रहण करने के लिए खुले होते। ब्रह्मचर्य अवस्था समाप्त करके वीर एवं संयमी दृढ़ता पूर्वक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते। वासना उन्हें छूकर भी नहीं निकली होती। वे एक धोती पहनते एक उत्तरीय ओढ़ते। पैरों में खड़ाऊं होतीं और शिर खुला हुआ। शरीर के रोम २ जीवनप्रद प्राण को प्रकृति से खींचते। रोशनी और धूप शरीर के प्रत्येक अंग के साथ अपना प्रबन्ध बनाये रखते। वे ज्ञानी बनते, हृष्ट बनते, बली बनते और बनते दीर्घ जीवी। रोग का नाम तक न होता। उन्हें सूर्य ने कभी सोते हुए नहीं देखा। तब आज की तरह सटे हुए मकान नहीं थे। और न एक मंज़िल पर दूसरी मंजिल ही लदी हुई थी। सूर्य स्वच्छन्द गति से प्रत्येक स्थान पर अपनी किरणें भेज सकते थे। गृहस्थाश्रम समाप्त करने के बाद वे फिर वान-प्रस्थी होते, वनों में चले जाते, मुक्त आकाश के नीचे रहते, वस्त्रों में फिर एक लंगोटी होती। और तब फिर सन्यासी बने हुए वे रोग और शोक पर विजयी बनकर पृथिवी पर स्वच्छन्द विचरण करते। कितना सुखी था वह जीवन, जिसमें न दिखावट थी और न बनावट और एक आज का जीवन है, जिसमें रोग शोक से घिरा हुआ मानव इस संसार से मुक्ति पाने के लिए दिन रात छट पटाता रहता है।

आज क्या इस रोग शोक से मुक्ति नहीं मिल सकती। मिल क्यों नहीं सकती लेकिन तब इस आडंबर वाली वेषभूषा को त्यागना होगा। शरीर ज्यादा से ज्यादा नंगा रहकर खुली हवा, धूप और रोशनी का उपयोग कर सके ऐसा वाता-वरण बनाना होगा। सूर्योदय से पहले बिस्तर छोड़कर उठ बैठना चाहिए। और शरीर पर अधिक से अधिक एक लंगोट या एक ढीला कच्छ के अलावा और कुछ न रहना चाहिए। प्रातः काल की हवा और प्रातःकाल की धूप को शरीर से अधिक से अधिक सम्बन्धित करना चाहिए। यदि शीतकाल हो तो जितनी देर तक रहा जासके रहना चाहिए पर यदि गर्मी के दिन हों तो अधिक से अधिक जितना रहा जासके रहना चाहिए। कोई भी ऋतु हो शरीर को कपड़ों से नहीं लादना चाहिए। इसी प्रकार तंग कपड़ा भी नहीं पहनना चाहिए। गहरे श्वांस प्रश्वांस द्वारा ज्यादा से ज्यादा प्राण शक्ति को खींचना चाहिए और जहां पेड़ वृक्ष आदि की संख्या अधिक हो वहां रहने की कोशिश करनी चाहिए। फिर आदमी चाहे कैसा ही अशक्त या

रोगी क्यों न हो उसे स्वस्थ होने में देर नहीं लगेगी।

बीमारी की हालत में भी मरीज को जहां ज्यादा से ज्यादा साफ एवं खुली हवा मिल सके वहां रखना चाहिए। रोशनी और धूप तो उसे मिलनी चाहिए। धूप में रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने की गजब की शक्ति होती है। इसी प्रकार जहां स्वच्छ हवा का आवागमन होता है वहां भी रोग के कीटाणु नहीं रह पाते। रोग हमेशा गन्दी जगह में उत्पन्न होता है। इसलिए शरीर का या स्थान का जो भाग हवा और धूप से विशेष सम्बन्धित रहता है वहां रोग का प्रवेश ही नहीं हो पाता।

आमतौर से लोग ठण्ड लगजाने या धूप लग जाने का डर करते हैं पर जो ठण्ड से या धूप से बचने का प्रयत्न करते हैं उन्हीं व्यक्तियों पर उसका प्रभाव पड़ता है, लेकिन यह प्रभाव कोई बुरा नहीं होता, यह तो अन्दर की गन्दगी निकालने की ही कोशिश करता है। रोग स्वयं भी प्रकृति द्वारा अन्दर की गन्दगी को निकालने का साधन है। इसलिए जब प्रकृति गन्दगी निकाल रही हो उस समय यदि रोगी को गन्दगी निकालने वाले साधनों से दूर रखा जायगा तो लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होगी इसलिए रोगी को स्थायी लाभ देने के लिए खुली हवा, रोशनी और धूप की विशेष आवश्यकता है, पर जितना वह सहन कर सके, उतना ही उसे इनका सेवन कराना चाहिए। मात्रा धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। एक साथ ही शक्ति से अधिक प्रयोग कर बैठने पर हानि होने की संभावना रहती है।

प्रकृति हमेशा प्राणी को प्रकृति के अनुकूल रखना चाहती है, जब मनुष्य प्रकृति से छिपना चाहता है तभी उसे रोगों का सामना करना पड़ता है इसलिए रोग से मुक्ति पाने का उपाय प्रकृति के अनुकूल होता है, न कि प्रकृति से दूर भागना, इसलिए हवा, धूप और रोशनी प्राणी के सहायक हैं इसलिए इनसे बचने की कोशिश न करके मनुष्य को इनका अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिए इससे बढ़कर प्राणियों का हितैषी अन्य कोई नहीं है। जैसे २ प्राणी प्रकृति के समीप जाता जायगा, वैसे २ ही वह अधिक स्वस्थ और सौभाग्यशाली होता जायगा। शरीर का पूर्ण विकास होगा और मन स्वस्थ तथा ज्ञान में चैतन्यता आवेगी।

संन्यासयोग।

(श्री निरञ्जनप्रसाद गौतम, पटलौनी)

बुढ़ापे तथा शारीरिक कमजोरी के कारण सामाजिक संघर्ष को छोड़कर और इह लौकिक कष्टों की चिन्ता किये बिना निष्पाप जीवन बिताना 'संन्यासयोग' कहलाता है।

जो लोग जवानी में ही इस योग को धारण करते हैं, वे संन्यासयोग के अधिकारी नहीं हैं। दूसरे शब्दों में या तो वे निठल्ले हैं, सांसारिक ज़िम्मेदारी से मुक्त होकर दूसरों की कमाई पर मौज उड़ाना चाहते हैं या फिर उनकी साधना कर्मयोग की भूमिका होती है।

संन्यासयोगी अपने आप में लीन रहता है। वह दुनियाँ को नहीं सताता और यदि दुनियां उसे सतावे तो वह उसकी भी परवाह नहीं करता। अपने जीवन के उत्तर काल में जब कि वह अपनी समस्त जिम्मेदारियां पूरी कर चुका होता है, संन्यास ग्रहण करता है। तब उसे एकान्त की आवश्यकता होती है जहां वह सांसारिक जीवन से ऊपर उठकर अपने जीवन को निष्पाप एवं सहिष्णु बना सके।

जीवन को निष्पाप एवं सहिष्णु बनाये बिना योग

की साधना ही आरंभ नहीं होती। इसलिए किसी के अच्छे करने पर या किसी के द्वारा बुराई करने पर उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होते। संन्यासयोगी जहां सदाचारी होता है वहां वह स्वावलम्बी भी होता है, एकान्तप्रिय, तपस्वी और सहिष्णु होता है।

यह बताया जा चुका है कि युवावस्था संन्यासयोग का क्षेत्र नहीं है। वह कर्मयोग का का क्षेत्र है। आगे बताया जायगा कि कर्मयोग में अपने जीवन को समाज सेवा के लिए किस प्रकार बिताना पड़ता है और किस प्रकार समाज के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष में आना पड़ता है। लेकिन संन्यास योग का उद्देश्य न तो समाज सेवा करना है और न समाज के संघर्ष में आना है। समाज के संघर्ष से अलग रहने के कारण ही उसे संन्यासयोग कहते हैं। रही समाज सेवा। यह कार्य तो लक्ष्य न होने पर भी स्वतः सम्पन्न हो जाता है।

जो कर्मयोगी बनना चाहते हैं, वे शक्ति संग्रह करने के लिए या जिस प्रकार ये समाज की सेवा करना चाहते हैं उस प्रकार की सेवा करने के लिए जिस सामग्री बौद्धिक, शारीरिक, मानसिक आध्यात्मिक—की आवश्यकता होती है उसे प्राप्त करने के लिए समाज संघर्ष से बचकर, घर द्वार छोड़कर संन्यासी बनकर कहीं अलग साधना करना आरंभ कर दें यह संभव है। लेकिन न तो संघर्ष से अलग रहना इनका उद्देश्य होता है और न जनसेवा से विमुख होना। बिना पूर्व तैयारी के कर्मयोगी बनना आसान भी नहीं है क्योंकि जन सेवा बिना जन संघर्ष में आये संभव नहीं होती और जो जन संघर्ष में आकर उससे प्रभावित हो उठते हैं वे जनसेवा कर भी नहीं सकते। इसलिए वे कर्मयोग के उपयुक्त पात्र भी नहीं होते। उपयुक्त पात्र बनने के लिए कुछ समय पृथक रहना उनके लिए आवश्यक हो जाता है इसलिए देखने में वे भले ही संन्यास योगी दिखाई दें पर होते हैं वे कर्मयोगी, क्योंकि कर्मयोगी बनने के लिए—जनसंघर्ष में आने के लिए वे अपने को योग्य बनाते हैं।

यह भी कभी कभी देखने में आया है कि जन संघर्ष से अकुलाकर शिथिल होकर कुछ व्यक्ति संन्यास ले लेते हैं। वे अपने से निराश हो चुके होते हैं यद्यपि वे युवा ही रहते हैं लेकिन जैसे २ उनकी साधना बढ़ती जाती है, निराशा उन पर से अपना दबाव हटाती जाती है। और वे धीरे धीरे साधना की परिपक्वता प्राप्त करते हुए कर्मयोगी होजाते हैं। उद्देश्य कर्मयोग न होने पर भी संन्यास योग के अनुकूल उनका स्वभाव नहीं होता इसलिए संन्यास योग में उतर जाने के बाद भी वे कर्मयोगी बन जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि दांभिकपन न हो और निठल्लेपन में रह कर जीवन बिताने की वृत्ति न हो, उनका जीवन प्रमाद से न घिर गया हो तो कोई युवा, युवात्मक शक्ति रहते हुए संन्यास योग में टिका रह ही नहीं सकता, उसे तो कर्मयोग की ओर प्रवृत्त होना ही पड़ता है। स्वामी विवेकानन्द का जीवन इस कर्मयोग से ओत प्रोत दिखाई देगा। यद्यपि वे संघर्ष से भाग कर सन्यासी नहीं हुए थे फिर भी उनकी युवात्मक वृत्तियों ने उन्हें कर्मयोग के मार्ग का ही पथिक बनाया था। महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी का जीवन भी कर्मयोगी का जीवन है।

गृह छोड़कर कर्मयोगी बना जासकता है क्या? यह एक प्रश्न है जिसे अक्सर लोग पूछ बैठते हैं क्योंकि उनके दिमाग में एक ही बात भरी रहती है कि गृहस्थ जीवन में रहकर ही कर्मयोग किया जासकता है। भगवान कृष्ण और राजर्षि जनक के उदाहरण भी पेश किये जाते हैं। लेकिन गृह छोड़ना ही संन्यास नहीं है। जो गृह के संकुचित दायरे को तोड़कर उसे विस्तृत बनाते हैं। जो गांव को, जिले को, प्रान्त को, देश को और उसी क्रम से समस्त विश्व को अपना घर बना लेते हैं वे घर के संकुचित दायरे में बंधे भी नहीं रहते। जो बंधे हुए दिखाई देते

हैं, वे भी वास्तव में उस सीमा का अतिक्रमण कर चुके होते हैं। हां, घर में रहकर घर के संघर्ष का मुकाबला करना, फिर समाज, जाति, देश और विश्व के संघर्ष में अपने आपको डालकर उसे पार करना सचमुच ही वीरता का काम है। इसलिए जो गृही हैं और प्रत्येक संघर्ष का वार सहते हुए कर्त्तव्य पथ पर सहिष्णुता एवं निष्पाप जीवन बनाये हुए आगे बढ़े जारहे हैं, जनसेवा कर रहे हैं, वे महान् है परन्तु घर की सीमा का अतिक्रमण करके, घर को छोड़कर जिन्होंने समाज सेवा के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है, वे भी कम महत्त्व के नहीं हैं। शंकराचार्य का जीवन इस दृष्टि से आदर्श है। कर्मयोग जन सेवा के उत्तर दायित्व से मुक्त होने का पाठ नहीं पढ़ाता बल्कि जनसेवा तो उसकी प्रधान पीठिका है।

युवा होते हुए भी जनसंघर्ष से बचना और आत्मशान्ति ही प्राप्त करना चाहते हैं वे शारीरिक दृष्टि से भले युवा हों पर आत्मदृष्ट्या वे अवश्य वृद्ध हो चुके हैं। ऐसे युवावृद्ध होसकते हैं कि संन्यासयोग में उपयुक्त बैठ जावें।

गृह त्याग कर कर्मयोग का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति से गृही होकर कर्मयोगी बनने वाले व्यक्ति की विशिष्ट महत्ता को नहीं भूला जासकता क्योंकि गृह त्यागने के पश्चात् गृही होने की अवस्था में जिन विपत्तियों, परेशानियों और चिन्ताओं का सामना करना पड़ता, उनसे वह मुक्त रहता है। गृही इनका सामना करते हुए जनसंघर्ष में कदम उठाता है। इसलिए गृही को कर्मयोगी बनने में संन्यासी बनकर कर्मयोग की साधना करने से अधिक कठिनाई है। पर जो जितनी अधिक कठिनाइयों को सहन करते हुए अविचलित होता है वह उतना ही महान् योगी होता है इस दृष्टि से गृहस्थ कर्मयोगी की प्रशंसा की जाती है यहां तक कि उसी को कर्म योगी कहा जाता है जो घर में रहकर, घर की जिम्मेदारियों को पूरा करता हुआ विश्वकल्याण में दत्तचित्त होता है।

पर जो शिथिल होगये हैं, वे सिसकते हुए जीवन यापन करें इसकी अपेक्षा संन्यास लेकर आत्म शान्ति की साधना में तल्लीन हो जावें यह ज्यादा अच्छा है। इसीलिए वृद्धावस्था प्राप्त होने पर व्यक्तियों को सांसारिक मोह छोड़कर आत्म-शान्ति के लिए संन्यासयोग की अवश्य दीक्षा लेनी चाहिए। शास्त्रों में भी अन्त्ययोग अर्थात् संन्यास योग लेकर शरीर छोड़ने की बात का समर्थन किया है— योगेनान्ते तनुत्यजाम्।

दाम्पत्य जीवन की साधना के मंत्र।

१—गृहस्थाश्रम पति और पत्नी की साधना का आश्रम है यहाँ जीवन की—धर्म, अर्थ और काम की साधना की जाती है।

२—पति एवं पत्नी दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, सहायक हैं, मित्र हैं। दोनों का काम एक दूसरे के गुणों की वृद्धि करना है, कमियों को दूर करना है और परस्पर अभिन्नता बनाये रखना है। इसके लिए प्रत्येक को संयम, सहनशीलता एवं स्वार्थ त्याग की भावना अपने अन्दर बढ़ाने की आवश्यकता है।

३—पति का नाम भर्ता है। भर्त्ता का अर्थ भरण और पोषण करने वाला है। पत्नी में उसकी उन्नति के लिए जिसकी कमी है वह उसे लाकर दे, उसका उसमें भरण करे और जो शक्ति अविकसित है या कम है उसका पोषण करे, उसकी वृद्धि करे। वह उसे हमेशा सन्तुष्ट रखे। उसके मानसिक, शारीरिक एवं आत्मिक विकास का निरन्तर ध्यान रखे। और उन्हें विकसित होने में अपना पूरा सहयोग दे।

४—पत्नी साधिका है। जिस तरह एक

साधक अपने प्रभु की साधना के लिए अपना सब कुछ समर्पण कर देता है उसी प्रकार अपने मन में द्वैत की भावना न रखकर पति को ही अपना आराध्य देव मानकर अपना भला और बुरा सब कुछ उन्हें सौंप दे। अपने लिए बचाकर कुछ भी शेष न रखे। जो कुछ करे पति के लिए। पति कुमार्ग गामी हो तो उसे सुमार्ग पर लाने के लिए अपना सर्वस्व तक चढ़ा दे। ध्यान रहे पत्नी को शासक नहीं बनना है। साधिका हमेशा सेविका होती है। सुधार के लिए शासन की नहीं सेवा की आवश्यकता होती है। कुमार्गगमन एक मानसिक रोग है, इस रोग के लिए उपचार की, सेवा की जरूरत है। अतएव उसके उपयुक्त उपचार करना ही उसके लिए श्रेयस्कर है। कुमार्ग छोड़ देना ही पत्नी की साधना का फल है।

४—पितृ ऋण के उद्धार का एक मात्र साधन दाम्पत्य जीवन की शान्ति है। सन्तान का उत्पादन और सुशिक्षित योग्य दम्पत्ति के बिना कदापि संभव नहीं है। योग्य माता पिता से ही योग्य सन्तान होती है इसलिए योग्य सन्तान के लिए स्वयं की समस्त त्रुटियों को निकाल फेंकने में आना कानी नहीं होनी चाहिए।

६—दाम्पत्य जीवन का उद्देश्य भोग नहीं है। योग है। इसलिए प्रत्येक उन साधनों को अपनाना चाहिए जिससे परस्पर का द्वैत नष्ट हो और आत्मरति एवं आत्म प्राप्ति की ओर दम्पत्ति गतिवान् हो। मोह की अपेक्षा प्रेम की परस्पर जितनी वृद्धि होगी और मान अपमान जितना दोनों में कम होगा इस दिशा में दोनों की उतनी ही उन्नति होगी।

भोग का शमन योग से नहीं होता, भोगने से वासनायें बढ़ती हैं। संसार के सभी पदार्थ वासना को बढ़ाते हैं इसलिए जितने से शरीर मन तथा आत्मा की उन्नति हो, उन्हें सुख मिले उतने का ही उनसे सम्पर्क रखना चाहिए। जीवन में उनको लाकर उनका गुलाम नहीं बन जाना चाहिए अन्यथा इससे कलह का बीज बढ़ता है और दाम्पत्य जीवन का उद्देश्य विफल हो जाता है।

८—स्त्री पुरुष का सम्बन्ध यज्ञ के लिए है। यज्ञ में ईश्वरी भावना है, भोग नहीं। ईश्वरी भावना को पुष्ट करने के लिए ही दाम्पत्य जीवन का निर्माण किया गया है, इसलिए स्त्री तथा पुरुष दोनों को ही पर पुरुष एवं पर स्त्री के विषय में किसी प्रकार की तन्मयता या भोग भावना नहीं रखनी चाहिए। स्वपुरुष और स्वस्त्री में भी सन्तान रूपी यज्ञ फल प्राप्ति के लिए यज्ञ भावना का ही उपयोग करना चाहिए। भोग से जितना दूर रहा जाय उतना ही ठीक।

(९) दाम्पत्य जीवन का मूलमंत्र प्रेम है। प्रेम में त्याग है। अपने लिए कुछ नहीं, इस भावना की पुष्टि के लिए यह जीवन माध्यम है। इसलिए न यहां स्वार्थ है, न वासना, न भोग। फिर बदला तो होगा ही क्यों? इसएव इस बात के ज्ञान का निरन्तर जागरण उसकी कुंजी है। और भूल होने पर पश्चात्ताप ही उसका सच्चा प्रतिशोध है। इसमें मान अपमान रहने से प्रेम की उतनी ही न्यूनता झलकती है। शुद्ध प्रेम में द्वैत की गुंजाइश ही नहीं होती तब कौन छोटा और कौन बड़ा, कौन दास और कौन मालिक, फिर किसका मान और किसका अपमान—सब एक हैं, सब अपने हैं।

लाखों गूंगों के हृदय में जो ईश्वर विराजमान है, मैं उसके सिवा अन्य किसी ईश्वर को नहीं मानता। वे उसकी सत्ता को नहीं जानते, मैं जानता हूं। और मैं इन लाखों की सेवा द्वारा उस ईश्वर की पूजा करता हूं जो सत्य है अथवा उस सत्य की जो ईश्वर है। + +

मनुष्य को चामत्कारिक शक्तियां कठिन काम करने से प्राप्त नहीं होतीं, बल्कि इस कारण प्राप्त होती हैं कि वह उन्हें शुद्ध हृदय से करता है।

\+ + +

प्रगति या विनाश के पथ पर।

(श्री विट्ठल शर्मा, चतुर्वेदी)

मानव जाति प्रगति कर रही है, सभ्य बन रही है अनेकों बार यह बात दुहराई गई है। और इसे दुहराने के साथ उदाहरण के रूप में कहा जाता है कि पहले के लोग जंगली थे, न ऐसा रहन सहन था, न ऐसा लिबास, कन्दमूल खाते थे, बल्कल पहनते थे और जंगलों की गुफाओं में जंगलियों की तरह रहा करते थे। अपनी रक्षा के लिए पत्थर से काम लेते थे। धीरे २ सभ्यता का प्रसार हुआ, लकड़ी और लोहे के हथियार बने। इस सभ्यता के युग में तोपें हैं, बन्दूकें हैं, मशीनगनें हैं और बम तथा गैसों का उपयोग किया जाता है। परमाणु शक्ति की खोज होगई है इस तरह मनुष्य दिन पर दिन सभ्य होता जारहा है, वह विकास की ओर है। सुनकर हँसी सी आती है।

जब हथियारों की वृद्धि होती है तो मनुष्य कितना अरक्षित अपने आपको मानने लगता है, कितने भय का संचार हो जाता है क्या किसीने इसे सोचा। कौन कहेगा कि भय की वृद्धि सभ्यता का निशानी है। जैसे २ भय की वृद्धि होती है, पशुता का विकाश होता है और चेतना की मूर्छा बढ़ती जाती है। तब क्या प्रगति का अर्थ पशुता का विकास है चेतना का विकाश नहीं। सभ्यता में पशुता के विकास का उदाहरण देना कितना हास्यास्पद है।

पहले के उदाहरण अब भी सुनने को मिलते हैं, हमें कहा जाता है, पहले मकानों में ताले नहीं लगते थे, चोर और डाकुओं का नाम भी नहीं था, कभी अकाल नहीं पड़ते थे। कोई व्यभिचार नहीं करता था। बाप के सामने कभी बेटों की मृत्यु नहीं हुई। मन चाहा पानी बरसता था और मनमाना दूध घी खाने को मिलता था। और आज बाप बैठा रहता है, बेटा मर जाता है। किसी की कोई चीज सुरक्षित नहीं है। तिजोरियों और तालों की नित्य नयी सृष्टि हो रही है। क्या यही सभ्यता है, क्या यही प्रगति है।

जिस प्राणी को हम देखते हैं उसमें दो तत्व दिखाई देते हैं—एक जड़ तत्व है, दूसरा चेतन। जब जड़ का विकाश होता है चेतन दब जाता है। पहले चेतना का विकाश था, नैतिकता बढ़ी हुई थी सब अपने धर्म को पहचानते थे। विश्व के समस्त प्राणी सबमें व्याप्त एक ही आत्मा का दर्शन और अनुभव किया करते थे। अब हर एक की अपनी ढपली और अपना राग है। चेतना मूर्छित होती जारही है। उसका स्थान जड़ता लेरही है। जड़ता नष्ट होने वाला तत्व है, उसे अमर करने के लिए आज की सभ्यता का विकाश है, जो मरणधर्मा है उसको अमरत्व न कभी मिला न कभी मिलेगा बल्कि जो तत्व अमर था उसे और मरण धर्मा बनाने का छिपे २ प्रयत्न होरहा है। और हम देख रहे हैं कि आज की सभ्यता उस चेतना आत्मा को नित्य प्रति मूर्छित करती जारही है। नैतिक तत्व विदा ले रहे हैं। समता और एकत्व को कोई मानता नहीं है। अनेकता का बोलबाला और चैतन्य हीन होकर जड़ तत्व पर अपने अधिकार स्थापन की डींग मारी जारही है। घर घर में कलह है, राग द्वेष है, खून-खच्चर है। गांव-गांव, जिला जिला, प्रान्त प्रान्त और देश देश में यह बीमारी बढ़गई है। एक दूसरे को हड़पजाने और फाड़-खाने के लिए तैयार है। इन मनुष्य शरीरधारी पशुओं का उन पशुओं के साथ मुकाबला तो कीजिये जो पेट भरजाने पर अगले दिन का भार अपने पुरुषार्थ पर छोड़ देते हैं, जो संग्रह नहीं करते और जिन्होंने अपने राज्य की तथा रहने की

कोई सीमा नहीं बनाई है। उनसे भी कितने गये बीते और पीछे हो गये हैं हम। फिर भी कहते हैं कि सभ्यता की दौड़ में हम आगे बढ़ रहे हैं। हम प्रगति शील हैं।

हम-हम कहकर जिसे हम प्रगतिशील कहते हैं कौन है वह? क्या हम उसे जानते हैं, समझते हैं, देखा है हमने क्या उसे? लेकिन कहीं कोई इसकी चर्चा नहीं करता, तब फिर कौन प्रगति कर रहा है? कहां प्रगति हो रही है?

प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना ही नहीं है, प्रकृष्ट गति भी इसका अर्थ है। जिसमें गति होती है वही गतिवान् होता है। जो जड़ है उसमें गति नहीं होती। गति हमेशा आगे ही होती है। जब गति रुकजाती है तब उसका गिरना आरंभ होता है। आज हमने अपने आपको जानना, समझना बन्द कर दिया है। शक्ति भंडार का ताला बन्द कर दिया है इसलिए हम बड़ी तेजी से जड़ बनने की ओर लुढ़क रहे हैं। चेतना गुप्त हो रही है। हम प्रगति की ओर नहीं विनाश की ओर बढ़ रहे हैं। हमारी प्रगति विनाश की ओर है, जड़ की ओर है हम अपनी स्वाभाविक शक्तियों को खोते जारहे हैं। निरन्तर जड़ के काबू में आते जाने के कारण हमारा कार्य आत्म-हत्या जैसा हो रहा है।

वास्तविक प्रगति का अर्थ है चेतना पर जो जड़का काबू है, उसे हटाना। चेतन राज्य की सीमा का विस्तार करना। आत्मशक्ति को दृढ़ से दृढ़तर करना। दूसरे शब्दों में जड़ पर चेतना का प्रभुत्व कायम करना। इस प्रगति में बेटे को बाप की कमाई नहीं मिलती। इस कमाई में हर एक को श्रम करना पड़ता है। यह कमाई पैसे से नहीं खरीदी जाती यह तो श्रम से ली जाती है। आत्म उद्धार के लिए व्यक्ति को स्वयं ही प्रयत्न करना पड़ता है, स्वयं ही साधना करनी पड़ती है। आज की सभ्यता इस साधना का स्पर्श करके भी नहीं चल रही है। यह कथित सभ्यता कितनी दूर है प्रगति से।

यदि आप विनाश को बुरा समझते हैं और इस सभ्यता को विनाश बाद की ओर जाते देखते हैं तो क्या फिर भी इसी ओर चलते रहना पसन्द करते हैं। क्यों नहीं आत्मा की ओर प्रगति करते। क्यों नहीं आत्म शक्ति पर निर्भर रहते। क्यों नहीं उसे जगाने की कोशिश करते। जो विनाश निकट भविष्य में दिखाई देरहा है, उससे मुक्ति देने का एक मात्र उपाय इस सर्व-ग्रासी जड़ उपासिका सभ्यता को छोड़ कर आत्म-शक्ति की प्रतिष्ठा करना है: आत्मोद्धार की ओर आगे बढ़ना है, नैतिकता को वरण करना है। वास्तविक सभ्यता यही सभ्यता है। यही प्रगति का पथ है। यही भारत की प्राचीन सभ्यता है जिसका कि उसको गौरव है और जिसके कारण भारत आज गौरव की नजरों में देखा जाता है।

मृत्यु के समय दुःख या भय से मुक्ति।

जिन लोगों का आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास है, पुनर्जन्म मानते हैं, वे यह समझते हैं कि मृत्यु भी आत्मा की एक अवस्था विशेष है। जिस प्रकार स्थूल शरीर को आत्मा धारण करती है और उस स्थूल शरीर को नित्य बदलती रहती है, कभी बचपन उसमें दिखाई देता है, कभी किशोर अवस्था। कभी जवानी दिखाई देती है तो कभी बुढ़ापा। शरीर के रहने पर जिस प्रकार उसके अनेक रूपान्तर होजाते हैं उसी प्रकार इस देह द्वारा संस्कारों का भोग समाप्त होने पर इस देह को छोड़कर दूसरे भोगोपयुक्त शरीर की रचना होती है। पहले शरीर को छोड़ना मृत्यु

कहलाती है और अगले शरीर को धारण करना जन्म। इसी प्रकार जन्म एवं मृत्यु का चक्कर चला करता है।

पर ऐसे लोग भी इस दुनियां में हैं जो आत्मा के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते। और इस लिए पूर्वजन्म और पुनर्जन्म पर भी उनका विश्वास नहीं है। उनके लिए यही जन्म सब कुछ होता है, इसलिए इस जन्म के प्रति, इस शरीर के प्रति उनमें अधिक मोह, अधिक ममत्व रहता है, और सत्तानाश का डर तो सदैव ही बना रहता है। 'हम काऊ के मरें न मारें' कहने वाले अनेक व्यक्तियों की कथायें पुराण इतिहास में भी मिल जाती हैं।

मोह और ममता का बाहुल्य तो उनमें भी देखा जाता है जो कि आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं लेकिन उस विश्वास में दृढ़ता का नामोनिशां भी नहीं रहता। वे भी अन्दर ही अन्दर शायद अज्ञात रूप से यह अवश्य सोचते रहते हैं कि आगे जाने क्या होगा? और अपने पीछे के लोगों की—परिवार की, क्या हालत होगी। वे यह भूले रहते हैं कि आत्मा अपने पर पड़े हुए संस्कारों के कारण उनका भोग करने के लिए शरीर धारण करता है और संस्कारों का भोग भोगता रहता है। जहां जहां जिन जिन के द्वारा भोग भोगना होता है वहां वहां जन्म लेता, रहता, मिलता-जुलता एवं सम्पर्क स्थापित करता है। और भोग की अवधि समाप्ति होते ही बिना एक क्षण का भी विलम्ब लगाये उन उन स्थानों, व्यक्तियों से सम्बन्ध विच्छेद कर देता है। इसलिए ममता या मोह में पड़कर जिन सम्बन्धों की व्यावहारिक रूप में हमने कल्पना कर रखी है वे भोग भोगने मात्र के सम्बन्ध हैं, आत्मा का उन सम्बन्धों के साथ कोई लगाव नहीं है। आत्मा तो सर्वत्र एक सा है। संस्कारों के कारण भिन्न सा प्रतीत होता है।

जन्म और मृत्यु का सम्बन्ध संस्कारों के साथ है। संस्कार कर्म के द्वारा पड़ते हैं। कर्म दो तरह के होते हैं एक मानसिक दूसरे शारीरिक दोनों प्रकार के कर्मों का संस्कार आत्मा के ऊपर पड़ता है। संस्कारों का संग्राहक मन है। इसलिए विविध ग्रन्थों में संस्कारों को जन्म, मरण का कारण न बतलाकर मन को ही उसका कारण ठहराया है।

जिस प्रकार सृष्टि का कारण बीज माना जाता है उसी प्रकार प्राणि जगत में सृष्टि का कारण 'मन' माना गया है। जैसे कोई कोई बीज सृष्टि करने में असमर्थ होता है उसी प्रकार कोई कोई मन भी संस्कार ग्रहण नहीं करता। जब किसी बीज को भून लेते हैं तो वह उत्पादन की शक्ति खो देता है उसी प्रकार मन को भी उत्पादन शक्ति रहित बनाया जा सकता है।

सुख या दुःख भी उसी प्रकार के संस्कार हैं। मोह या ममत्व सम्बन्ध स्थापन के कार्य का फल है। यह फल इच्छा के द्वारा लगता है। पहले इच्छा होती है फिर उसके साथ मोह आता है और तब सुख या दुःख की उत्पत्ति होती है। योग से सुख होता है और वियोग से दुःख। कर्म जो किये हैं उनके फल सुख या दुःख रूपी भावना के उत्पन्न होने से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अकेले संस्कार ही मनुष्य को दुःख देते हैं, वासना देते हैं। दुःख पाने की कल्पना ही भय का स्रोत है। वियोग की कल्पना भय-दायक है। पर सुख-दुःख और योग-वियोग सभी कल्पना मय है। न कोई किसी से मिलता है और न कोई किसी से पृथक् होता है। जो सर्व रस है, सर्वमय है, एक है, उसे हम कल्पना से ही अनेक मान लेते हैं और अकल्पना से ही समीप या दूर। कल्पना का निरोध जैसे २ होता जाता है, मन का संस्कार ग्रहण करने वाला अंग सिकुड़ता जाता है। सम्पूर्ण निरोध होजाने पर आत्मा की वास्तविकता का बोध होता है। तब कर्मगत संस्कारों को मन ग्रहण नहीं करता क्योंकि उससे भिन्न कुछ है ही नहीं, इसी ज्ञान में वह सराबोर रहता

है। यह अवस्था उसकी अनासक्ति की होती है।

मृत्यु की अवस्था तक संस्कार ग्रहण न करने योग्य मन यदि बन जाता है तो जिस समय आत्मा इस शरीर को छोड़ता है उस समय उसे न किसी प्रकार की वेदना होती है और न किसी प्रकार का दुःख। लेकिन जितने अंश में मन में संस्कार ग्रहण करने की शक्ति रहती है, उतने अंश में मृत्यु के समय वेदना या दुःख का अनुभव होता है। प्राण का निर्गमन उतने ही कष्ट का बोध कराते हुए होता है। बोध सूचक लक्षण शरीर पर स्पष्ट प्रतीत होते हैं।

शरीर में प्राण वाहक तन्त्र सर्वत्र फैले हुए हैं। जैसे २ प्राणोत्क्रमण होता है वैसे २ वे अपने स्थानों को छोड़ते हैं। इन सबमें मनुष्य खिंचाव का अनुभव करता है। फिर ये प्राण कण्ठ और शिरोभाग से इन्द्रिय मार्ग द्वारा उत्क्रमण करते हैं। मन शरीर के समस्त वात तन्तुओं द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है इसलिए उसके खिंचाव को अनुभव करता है। आसक्ति रहने के कारण यह खिंचाव शरीर से वियुक्त होने के फल को देखकर भयभीत होता है। अतएव भय एवं खिंचाव जनित वेदना दोनों की मुख पर स्पष्ट छाया लक्षित होती है। यहां तक देखा गया है कि प्राणोत्क्रमण के अनन्तर मुखाकृति भयानकता धारण कर लेती है। मुँह फटा रह जाता है, आंख निकली सी पड़ती हैं एवं अन्य कई लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

इसके विपरीत अनेकों के मुख पर सौम्यता और मृदु हास्य भी देखने को मिला है जिससे प्रकट होता है कि मृत्यु के समय उन्हें न किसी प्रकार की वेदना हुई है और न वियोग जनित दुःख। किसी भी असद् संस्कार ने, वासना ने अपना अधिकार उस समय नहीं किया जिस समय कि प्राणों का उत्क्रमण हुआ था।

अन्त समय की वेदना और दुःख प्राणी के वियोग जनित अनुभूति का परिणाम है। कभी कभी स्वास्थ्य हीन शरीर के कारण भी ये विकृतियां उत्पन्न हुई देखी गई हैं। परिमित आहार-विहार से जिन्होंने अपने शरीर को स्वस्थ बना लिया है और स्वाध्याय आदि द्वारा जिन्होंने अपने आत्म ज्ञान को बढ़ाकर चरित्र में उतार लिया है वे किसी भी प्रकार के असद् संस्कारों से बद्ध नहीं रहते। तब उन्हें भय और शोक क्यों होगा? दुःख और वेदनाओं की पीड़ा को क्यों सहन करना पड़ेगा।

अन्त की पीड़ा से मुक्ति पाने की साधना तुरन्त ही कारगर नहीं होती, उसके लिए तो जन्म से ही श्रम करना होता है, मन को वासना शून्य बनाना पड़ता है, तब कहीं सिद्धि के दर्शन होते हैं। इसीलिए तो जीवन के आरंभ काल से स्वाध्याय शील एवं सदाचार—परायण बनने का आदेश दिया है। शास्त्रों में जो बार बार धर्मं चर, सत्यंवद, स्वाध्यायात्मा प्रमद, आदि आदेश वाक्य मिलते हैं उनका एक मात्र कारण अन्त गति को सुधारता रहना है जिसे जीवन में शान्ति रहे और मृत्यु भी शान्ति से हो।

हिन्दू-संस्कृति का आध्यात्मिक आधार।

हिन्दू—संस्कृति, उनके जीवन यापन की पद्धति साम्प्रदायिक नियमों के आधार पर गुंथी हुई या संगठित नहीं है। वह सम्पूर्ण रूप से वैज्ञानिक भित्ति पर निर्भर करती है। इसीलिए उसमें अनेक प्रकार के विषय आचारों के लिए समान रूप से स्थान है जिसमें न उच्चता के भाव हैं और न नीचत्व के।

हिन्दू-संस्कृति मनुष्य मात्र को क्या प्राणी-मात्र और अखिल ब्रह्माण्ड तक को भगवान का विराट् रूप मानता है। भगवान इस विराट में

आत्मरूप होकर प्रतिष्ठित हैं। और विश्व के समस्त जीव जन्तु प्राणी स्थावर जंगम उनमें अंगांगी भाव से स्थिर हैं। वे अंग है और ये सब अंगांग। जीवन के अंत तक प्रत्येक में यह भावना समाविष्ट रहे, एक मात्र इसी के लिए योग्यता, बुद्धि, सामर्थ्य के अनुसार उनके कर्त्तव्य निश्चित हैं। कर्त्तव्यों में विभिन्नता होते हुए भी प्रेरणा में समता है, एक निष्ठा है, एक उद्देश्य है। और यह उद्देश्य ही अध्यात्म कहलाता है। यह अध्यात्म लादा नहीं गया है, थोपा नहीं गया है, बल्कि प्राकृतिक होने के कारण स्वभाव है। और स्वभाव को अध्यात्म कहने भी लगे हैं। 'स्वभावो अध्यात्म उच्यते'।

विराट के दो विभाग है। एक हैं अन्तः चैतन्य और दूसरा है वाह्य अंग। वाह्य अंग के समस्त अवयव अपनी अपनी कार्य दृष्टि से स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। कर्त्तव्य भी उनकी उपयोगिता की दृष्टि से प्रत्येक के भिन्न भिन्न हैं। लेकिन ये सब हैं उस विराट अंग की रक्षा के लिए उस अन्तः चैतन्य को बनाये रखने के लिए। इस प्रकार अलग होकर और अलग कर्मों में प्रवृत्त होते हुए भी जिस एक चैतन्य के लिए उनकी गति हो रही है वही हिन्दू संस्कृति का मूलाधार है। गति की यह एकता—सत्-सता विनष्ट न हो इसी के लिए संस्कृति के साथ धर्म को जोड़ा गया है। और यह योग ऐसा हुआ है जिसे प्रथक नहीं किया जासकता यहां तक कि दोनों समानार्थक से दिखाई पड़ते हैं।

धर्म शब्द की व्युत्पत्ति से ही विराट की एकतानता का भाव स्पष्ट हो जाता है। जो वास्तविकता है उसीकी धारणा रखना धर्म है। वास्तविक है चैतन्य। यह नित्य है, अविनश्वर है, शाश्वत है, सभी धर्मों में आत्मा के नित्यत्व को, शाश्वतपन को स्वीकार किया गया है। लेकिन अंगांगों में प्रथक दिखाई देते रहने पर भी जो उसमें एकत्व है, उसको सुरक्षित रखने की ओर ध्यान न देने से विविध सम्प्रदायों की सृष्टि हो पड़ी है। हिन्दू धर्म की इस एकता को बनाये रखने, जाग्रत रखने की प्रवृत्ति अभी तक कायम है यही कारण है कि संसार में नाना सम्प्रदायों—मजहबों की सृष्टि हुई लेकिन आज उनका नाम ही शेष है। पर हिन्दू धर्म अपनी उसी विशालता के साथ जिन्दा है। हिन्दू धर्म वास्तव में मानव धर्म है। मानव की सत्ता जिसके द्वारा कायम रह सकती है और जिससे वह विश्व चैतन्य के विराट अंग का अंग बना रह सकता है उसी के लिए इसका आदेश है।

हिन्दू धर्म की विशेषता का सबसे बड़ा उस की अपनी विशिष्ट उपासना पद्धति। विश्व आत्मा की उपासना के लिए उसके समय विभाग में कोई एक समय निश्चित नहीं है। उपासना देश और काल में विभाजित नहीं हैं। उनका तो प्रत्येक क्षण उपासना मय है। वे अपने विश्व चैतन्य को एक क्षण के लिए भी भूलना नहीं चाहते, बल्कि गति विधि का प्रत्येक भाग इन चैतन देव के लिए ही लगाना चाहते हैं।

उपासना की दृष्टि से विराट् पुरुष चार भागों में विभक्त है। और समय भेद में भी उनके चार भाग कर दिए गये हैं। ये दोनों प्रकार के चार—चार भाग हिन्दू संस्कृति में वर्ण एवं आश्रमों के नाम से पुकारे जाते हैं। यों समस्त ब्रह्माण्ड में वर्ण धर्म और आश्रम धर्म पाये जाते हैं लेकिन हिन्दू संस्कृति उन्हें पृथक् नहीं रहने देना चाहती। उसकी दृष्टि में उनका अस्तित्व तब ही तक है जब तक कि विराट् पुरुष की रक्षा के लिए उनकी गति विधि है। दूसरे शब्द में विश्व चैतन्य की सामञ्जस्य स्थापना में वे अपने को लगाये हुए हैं। लेकिन अन्य संस्कृतियां या धर्मों की दृष्टि विराट के प्रति नहीं हैं वे अंग के अंश तक ही सीमित हैं। कोई भी बुद्धि विशिष्ट व्यक्ति इस बात को स्वीकार किये विना नहीं रह सकता कि समस्त शरीर का ध्यान छोड़कर शरीर के किसी एक ही अंग का ध्यान रखने से शरीर की रक्षा संभव ही नहीं हो सकती। अतः जो लोग चैतन्य

को भुलाकर, जिसने कि विराट पुरुष के शरीर को विभिन्न अंगों के द्वारा एक कर रखा है, अलग अलग अंगों तक ही अपने को सीमित रखते हैं और अपने साथी एवं सहयोगी दूसरे अंगों को न सिर्फ भुला देते हैं बल्कि उनके साथ प्रतिस्पर्धी बनकर उनकी सत्ता ही खो देना चाहते हैं वे स्वयं भी अपनी सत्ता कैसे स्थिर रख सकते हैं। इसी लिए हिन्दू संस्कृति में इस स्पर्द्धा से बचने के लिए जीवन के आरंभ काल में प्रत्येक को स्वरूप ज्ञान करने का आदेश है। चिन्मय सत्ता के साथ, विराट के साथ व्यक्ति को जोड़ने वाली इस कड़ी का नाम ही ब्रह्मचर्याश्रम है। इस नाम में ही यह ध्वनित होता है कि मानव की वह स्थिति जिसमें कि वह ब्रह्म में—विराट् पुरुष में—विश्वात्मा में भ्रमण करना उसके प्रति अपने को समर्पित करना सिखाया जाता है। जिस प्रकार शरीर के नाक, कान, आंख आदि के काम अलग अलग है। उनकी योग्यतायें और स्थितियां अलग अलग हैं उनकी सत्ता अलग २ होते हुए भी उनकी स्थिति तभी तक है जब वे इस देही के लिए अपनी स्थिति बनाये रखें, आत्मा के लिए कान सुने, नाक सूंघे और आंख देखे। जिस समय ये अपने लिए ही सुनना, सूंघना और देखना आरम्भ कर देंगी उसी समय उनकी स्थिति खतरे में पड़ जायगी और उनका विनाश होना निश्चित होजायगा। विराट पुरुष के विविध अंगों के साथ भी यही बात सुनिश्चित है। अंगों के कार्यों की समता की दृष्टि से उनके वर्ण नाम से चार भेद किये हैं। अन्तःशक्ति को मापने का पैमाना वर्ण है। जो जैसा काम कर सकता है उसका उसी प्रकार का सूक्ष्म रंग होता है। जो स्थूल जगत् में रंग दिखाई देते हैं वे उन्हीं सूक्ष्म वर्णों के स्थूल तैजस रूप हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम से जिन चारों वर्णों को व्यक्त किया जाता है उनका विभेद उनकी कार्य समता की दृष्टि से ही किया गया है। ये विराट् पुरुष के प्रधान अंग है। और फिर शेष अंगों का इन्हीं चारों में अन्तर्भाव होजाता है। ब्रह्मचर्याश्रम इन चारों को ही ब्रह्म में वरण करने की विद्या सिखाता है।

शरीर के मुख, बाहु, उरु, पाद का काम अपने लिए नहीं है, समस्त शरीर के लिए है, उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का काम अपने लिए नहीं विराट पुरुष के लिए है। इस दृष्टि को अन्त तक बनाये रखने की शिक्षा ब्रह्मचर्याश्रम में दी जाती है। तब द्वितीय अवस्था आती है। यह गृहस्थाश्रम है। यह आश्रम कर्म प्रधान है, व्यवहार प्रधान है। जो शिक्षा पाई है उसे जीवन में उतार लाना। इस शिक्षा का क्रियात्मक रूप गृहस्थाश्रम से आरम्भ होता है, वानप्रस्थ में इसकी वृद्धि होती है और संन्यास में परिपक्वता आती है। इस प्रकार शरीर में रहकर और शरीर रक्षा के लिए ही अपना रक्षण और अस्तित्व बनाये रखकर शरीर के प्रति आत्मोत्सर्ग कर देना शरीरांगों का काम है। विश्व आत्मा के लिए उसी प्रकार अपना अस्तित्व रखकर कार्य करते हुए उत्सर्ग कर देना वर्ण धर्म का उद्देश्य है। चैतन्य शक्ति को क्षणभर भी न भुलाने वाली यह हिन्दू संस्कृति हमेशा आत्मा की ओर ही अभिमुख रहती है और रही है। और इस ओर अभिमुख रहना ही हिन्दू धर्म को बचाये रखने का एक मात्र साधन है।

हिन्दू धर्म अध्यात्म प्रधान रहा है। आध्यात्मिक जीवन ही उसका प्राण है। अध्यात्म के प्रति उत्सर्ग करना ही सर्वोपरि नहीं है बल्कि पूर्ण शक्ति का उद्भव और उत्सर्ग दोनों की ही आध्यात्मिक जीवन में आवश्यकता है। कर्म करना और कर्म को चैतन्य के साथ मिला देना ही यज्ञ मय जीवन है। यह आध्यात्मिक जीवन ही यज्ञ मय जीवन है। यह यज्ञ जिस संस्कृति का आधार होगा, वह संस्कृति और उस संस्कृति को मानने वाली जाति हमेशा अमर रहेगी।

गायत्री-महाविज्ञान के पाँच अनुपम ग्रन्थ रत्न

इन्हें प्राप्त करने में विलम्ब न कीजिए !!

यह ज्ञान भण्डार आपको आध्यात्मिक सम्पत्तियों से परिपूर्ण कर देगा।

गायत्री मंत्र भारतीय धर्म की आत्मा है, जड़ है। हिन्दू धर्म गंगा है तो उसका उद्गम स्रोत गंगोत्री-गायत्री में है। गायत्री से चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। वेदों में जो ज्ञान है वह बीज रूप से गायत्री में मौजूद है। इसी प्रकार श्रुति, स्मृति, उपनिषद, शास्त्र, पुराण, दर्शन, आदि में जो ज्ञान भण्डार भरा हुआ है वह सब गायत्री के थोड़े से अक्षरों में मौजूद है। इसीलिए गायत्री को सर्वश्रेष्ठ मंत्र माना गया है, और उसकी नित्य उपासना करने के लिए विशेष जोर दिया गया है। प्राचीनतम काल के ऋषियों से लेकर आधुनिक काल के महापुरुषों तक ने—स्वामी दयानन्द और महात्मा गान्धी तक ने—एक स्वर से उसकी महत्ता का प्रतिपादन किया है।

गायत्री के एक एक अक्षर में—आत्मिक और भौतिक ज्ञान का अपार भण्डार भरा हुआ है, अध्यात्म, दर्शन, धर्म, नीति, राजनीति, रसायन, शिल्प, विज्ञान, स्वास्थ्य, अर्थ आदि सभी प्रकार का गूढ़तम ज्ञान मौजूद है। भगवती गायत्री की साधना और उपासना से बुद्धि का परिमार्जन और संशोधन होता है। साथ ही उसके आधार पर योग की गंभीर साधना बड़ी सरलता पूर्वक हो सकती है जिसके द्वारा बड़ी अद्भुत एवं आश्चर्यजनक गुप्त शक्तियों को जागृत करके जीवन सिद्धि को प्राप्त किया जासकता है। अनेक प्रकार की सफलतायें एवं समृद्धियां देने तथा संकटों एवं अभावों का निवारण करने की गायत्री में असाधारण शक्ति है। इसलिए इस एक मंत्र का आश्रय लेकर भी योग की पूर्णता प्राप्त की जासकती है। इन्हीं सब बातों को देखते हुए हिन्दू धर्म ने गायत्री को सर्वोच्च प्रतिष्ठा, महत्ता एवं मान्यता प्रदान की है।

इस महाशक्ति की विस्तृत जानकारी कराने के लिए अब तक कोई ऐसा संकलन दृष्टिगोचर नहीं होरहा था जिसमें वह सब गायत्री संबंधी ज्ञान एकत्रित किया गया होता, जो विभिन्न शास्त्रों में फैला हुआ है। हर्ष की बात है कि 'अखण्ड ज्योति' ने इस कार्य को पूरा किया है। लगभग दो हजार ग्रन्थों का दश वर्ष में मंथन करके इस संबंध में महान ज्ञान एकत्रित किया गया है। उसे अब प्रकाशित करके सर्व साधारण के लिए सुलभ बना दिया गया है।

नीचे गायत्री संबंधी पांच नये ग्रन्थों का परिचय कराया जारहा है जो इसी मास "अखण्ड ज्योति" द्वारा प्रकाशित किये गये हैं

(१) गायत्री विज्ञान—

गायत्री शक्ति का वैज्ञानिक विवेचन तथा परिचय, गायत्री की सरल, सुबोध एवं नित्य करने योग्य साधनाओं का वर्णन, गायत्री उपासना से होने वाले चमत्कारी लाभों की विवेचना इस पुस्तक में बड़े विस्तार से की गई है। गायत्री संध्या-गायत्री अनुष्ठान तथा गायत्री यज्ञ की विधियां भली प्रकार समझाई गई हैं। मूल्य २)

(२) गायत्री रहस्य—

गायत्री मन्त्र के एक एक अक्षर में ज्ञान का अगाध समुद्र भरा हुआ है। इन चौबीसों अक्षरों की ऐसी विस्तृत व्याख्या, विवेचना एवं मीमांसा की गई है कि उनके गर्भ में छिपे हुए ज्ञान भं

का परिचय भली प्रकार प्राप्त होजाता है। अनेकों ऋषियों ने, शास्त्रों ने, वेद भाष्यकारों ने, राक्षस राज रावण ने गायत्री के जो विभिन्न अर्थ किये हैं वे सब भी इस पुस्तक में मौजूद है। "गायत्री गीता" और 'गायत्री रामायण' भी इसी पुस्तक में संकलित हैं। मूल्य २)

(३) गायत्री के अनुभव—

वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति, उपनिषद् आदि में वर्णित गायत्री की महिमा तथा प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के महापुरुषों ने गायत्री के संबंध में जो अपने अनुभव और अभिमत प्रकट किये हैं उन सबका इस पुस्तक में वर्णन है। साथ ही अनेक साधकों ने गायत्री की उपासना करके जो अद्भुत लाभ प्राप्त किये हैं, उनका स्वयं बताये हुए वर्णन भी दिये गये हैं। इस पुस्तक के पढ़ने से गायत्री की उपयोगिता और महिमा भली प्रकार समझ में आजाती है। मूल्य २)

(४) गायत्री-तंत्र—

गायत्री मन्त्र को "मन्त्र राज" कहा है। इस से बड़ा कोई मन्त्र नहीं है। जो कार्य संसार के अन्य किसी भी मन्त्र से हो सकता है वह गायत्री मन्त्र से भी हो सकता है। इस पुस्तक में दक्षिण मार्गी वेदोक्त, तथा वाम मार्गी तंत्रोक्त दोनों प्रकार की विधियां बताई गई हैं जिनके द्वारा सात्विक, राजस और तामसिक तीनों ही प्रकार के लाभ उठाये जासकते हैं। पुरश्चरण, अभिचार, कवच, कीलक, मारण, संमोहन आदि सभी साधनाओं का पथ प्रदर्शन किया गया है। मूल्य २)

(५) गायत्री योग—

गायत्री द्वारा १२ योगों की साधना हो सकती है। प्रणव योग, विश्वयोग, ध्यान योग, सूर्ययोग, प्राणयोग, दिव्ययोग, विभुयोग, विज्ञान योग, लययोग, नादयोग, षट्चक्रयोग, ग्रन्थियोग इन बारह योगों की मीमांसा तथा उनकी साधना विधि भली प्रकार बताई गई है। गायत्री द्वारा इन बारह योगों को सुगमता पूर्वक किस प्रकार साधा जा सकता है यह सब इस पुस्तक में बताया गया है। साथ ही गायत्री उपनिषद् भी है। इस पुस्तक के द्वारा गृहस्थ व्यक्ति भी योगी बन सकता है। मूल्य २)

यह पांच पुस्तकें गायत्री सम्बन्धी ज्ञान का विश्वकोष है। जिन्हें अध्यात्म मार्ग में थोड़ी भी रुचि है उनसे हम आग्रह पूर्वक अनुरोध करेंगे कि वे इन रत्नों को अपने पास अवश्य संचय करलें। यह ग्रन्थ जीवन की अनेक कठिनाइयों सुलझाने और अनेक समृद्धियों को बढ़ाने में सच्चे मित्र और अनुभवी पथ प्रदर्शक का काम देंगे। स्मरण रखिए इन ५ पुस्तकों के लिए खर्च किये हुए १०) आपको किसी अवसर पर दस लाख रुपये का काम दे सकते हैं। सर्वोच्च लाभ-जीवन मुक्ति से लेकर दैनिक जीवन की उलझनों से छुटकारा दिलाने के तक के हर एक काम में आप गायत्री शक्ति से आश्चर्य जनक सहायता ले सकते हैं। अदृश्य सहायता प्राप्त करने के लिए यह ग्रन्थ एक प्रकार के दैवी वरदान है।

ब्रह्मर्षि वशिष्ठजी के उपदेश।

दैवं पुरुषकारेण यो निवर्त्तितुमिच्छति।
इहवाऽमुत्र जगतिस संपूर्णाभिवांछितः॥

जो भाग्य के दोष को पुरुषार्थ के द्वारा मिटाने का प्रयत्न करते हैं उनकी कामनायें इसलोक में अथवा पर लोक में अवश्य ही पूर्ण होती हैं।

संवित्स्पन्दो मनःस्पन्द ऐन्द्रियस्पन्द एव च।
एतानि पुरुषार्थस्य रूपाण्येभ्यः फलोदयः॥

बुद्धि से इष्ट पदार्थ के प्राप्ति की चिन्ता, मन के द्वारा उसके उपाय की चिन्ता एवं इन्द्रियों द्वारा उन्हें क्रियात्मक रूप देना ये पुरुषार्थ के रूप हैं जिनसे फल की प्राप्ति होती है।

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत्।
प्रयत्नाच्चित्तमित्येष सर्व शास्त्रार्थ संग्रहः॥

यदि चित्त बुराई में फँसा होतो उसे बुराइयों से निकाल कर भलाई में लगा देने का ही आदेश सब शास्त्रों ने दिया है।

उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेतिद्विविधं विद्धि पौरुषम्।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्॥

पुरुषार्थ दो प्रकार का होता है एक शास्त्र के अनुसार, एक अशास्त्रीय। जो अशास्त्रीय पुरुषार्थ होता है उससे अनर्थों की प्राप्ति होती है पर जो शास्त्र सम्मत होता है उससे परमार्थ की सिद्धि होती है।

आलस्यं यदि न भवेज्जगत्यनर्थः।
को नस्याद्बहुधन को बहुश्रुतो वा॥
आलस्यादियमवनिः ससागरान्ता।
संपूर्णा नरपशु भिश्च निर्धनैश्च॥

संसार में यदि आलस्य न होता तो अनर्थ भी न होते, सभी पण्डित और धनिक हो जाते। आलस्य के कारण ही यह सागर पर्यन्त की सारी पृथ्वी निर्धनी तथा मूर्खों से भरी हुई है।

प्राण्यव्याधिविनिर्मुक्तं देहमल्पाधिवेदनम्।
यथात्मनि समाधस्याशा [illegible]॥

जब तक शरीर रोगों से, चिन्ताओं से मुक्त है तब तक ऐसा उपाय सोच रखना चाहिए जिससे दुःख फिर न प्राप्त हो।

धनानि बांधवा,भृत्या मित्राणि विभवाश्रये।
विनाश भयभीतस्य सर्वं नीरसतां गतम्॥

धन, बान्धव,नौकर-चाकर,मित्र,धन-सम्पत्ति उस समय कुछ भी अच्छे नहीं लगते जब कि मरने का डर सामने आजाता है।

स्वदन्ते तावदेवैते भावाजगति धीमते।
यावत् स्मृतिपथं याति न विनाशकुराक्षसः॥

जब तक मृत्यु का स्मरण नहीं आता तब तक ही संसार के भोगों में रुचि रहती है।

न सुखानि न दुःखानि न मित्राणि न बान्धवाः।
न जीवित न मरणं बंधायक्षस्य चेतसः॥

ज्ञानी मनुष्य के चित्त को सुख, दुःख, मित्र बांधव, जीवन एवं मरण राग द्वेष के बन्धन में नहीं डालते।

मनसा वांछयते यच्च यथाशास्त्रं न कर्मणा।
राध्यते मत्तलीलाऽसौ मोहनी नार्थ साधनी॥

मनमें तो इच्छा हो लेकिन उसकी सिद्धि के लिए यथावत काम न किया जाय तो वह पागलों की सी लीला है वह मोह में डाल सकती है परन्तु कार्य सिद्ध नहीं कर सकती।

रूपमायुर्मनो बुद्धिरहंकारस्तथे हितम्।
भारो भारधरस्येव सर्वं दुःखायदुर्धियः॥

रूप, आयु, मन, बुद्धि, अहंकार और चेष्टायें दुर्बुद्धियों के लिए क्लेश ही उत्पन्न करती हैं क्यों कि जिससे परमपुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होती वे केवल मात्र बोझ के समान ही हैं।

अहंकार वशादापदहंकाराद् दुराधयः।
अहंकार वशादीहा त्वहंकारो ममामयः॥

अहंकार के कारण ही आपत्तियां उत्पन्न होती हैं, अहंकार से ही सब चिन्तायें जन्म लेती हैं, और अहंकार के आधीन ही सब चिन्तायें रहती हैं। इसीलिए अहंकार सबसे बड़ा रोग है।

कामनाऐं—

(श्री० रमेशचन्द दुबे, हटा)

(१)

क्या बताऐं......कामनाऐं, एक आयें, एक जायें।
एक कहती—देश का बन भक्त जगमें नाम करले।
एक कहती—मुक्ति के हित भ्रमण चारों धाम करले॥
एक कहती—चल कहीं एकांत में हरि गान गायें।
क्या बताऐं......कामनाऐं, एक आयें, एक जायें॥

(२)

एक कहती—एक प्याला और पीले और पीले।
एक कहती—मौत अच्छी, एक—कहती और जीले॥
एक कहती—नर्क में ही स्वर्ग के सब सुख उठायें।
क्या बताऐं......कामनाऐं, एक आयें, एक जायें॥

(३)

एक कहती—पाप मत कर, एक कहती—पाप करले।
एक कहती—पुण्य करके ताप तीनों आप हरले॥
एक कहती—झूंठ हैं ये पाप पुण्यों की कथाऐं।
क्या बताऐं......कामनाऐं, एक आयें, एक जायें॥

(४)

एक कहती—सत्य है सब, एक कहती—खेल है रे।
दीप तब तक जल रहा है, देख जब तक तेल है रे॥
झूंठ जग के नेह नाते छोड़दे ये कल्पनाऐं।
क्या बताऐं......कामनाऐं, एक आयें, एक जायें।